परमपूज्य जगद्गुरु

श्री अभिनव विद्यातीर्थ महास्वामी जी के

योग, साक्षात्कार तथा जीवन्मुक्ति

परमपूज्य जगद्गुरु
श्री अभिनव विद्यातीर्थ महास्वामी जी के

योग, साक्षात्कार तथा जीवन्मुक्ति

अनुवादक — विद्वान डॉ॰ सतीश के॰ एस॰

Centre for Brahmavidya
Chennai 600032

Book Title:

Paramapujya Jagadguru
Sri Abhinava Vidyatheertha Mahaswami ji ke
Yoga, Sakshatkar Tatha Jeevanmukti

Translator:
Vidwan Dr. Sateesha, K. S.

Published by:
Centre for Brahmavidya
SVK Towers, 8th Floor, A25, Industrial Estate, Guindy
Chennai 600032
Email: contact@centreforbrahmavidya.org
Website: www.centreforbrahmavidya.org

ISBN: 978-81-957509-2-4

© **Centre for Brahmavidya**
All rights reserved

Digital Edition: 2022
(For free distribution only)

समर्पण

परमपूज्य जगद्गुरु श्री अभिनव विद्यातीर्थ महास्वामी जी

ध्यायन्वरिष्ठं भवदङ्घ्रियुग्मं व्यक्तस्थिरं मद्धृदयारविन्दे।
तस्मिन्निमां प्रेरकयाश्रये मे नत्वा तदीयां कृतिमर्पयामि॥

आपके श्रेष्ठतम दो चरण – जो मेरे हृदय-कमल में प्रकट और स्थिर हैं,
जो मेरे प्रेरक तथा आश्रय हैं – उनका ध्यान करते हुए, उनको प्रणाम करके,
उन्हीं की इस कृति को उन्हें अर्पित करता हूँ।

परमगुरु परमपूज्य जगद्गुरु श्री चन्द्रशेखर भारती महास्वामी जी को
प्रणाम करते हुए गुरुजी

इस हिन्दी भाषानुवाद के मूल अंग्रेज़ी ग्रन्थ के लिए परमपूज्य
जगद्गुरु श्री भारती तीर्थ महास्वामी जी का श्रीमुख

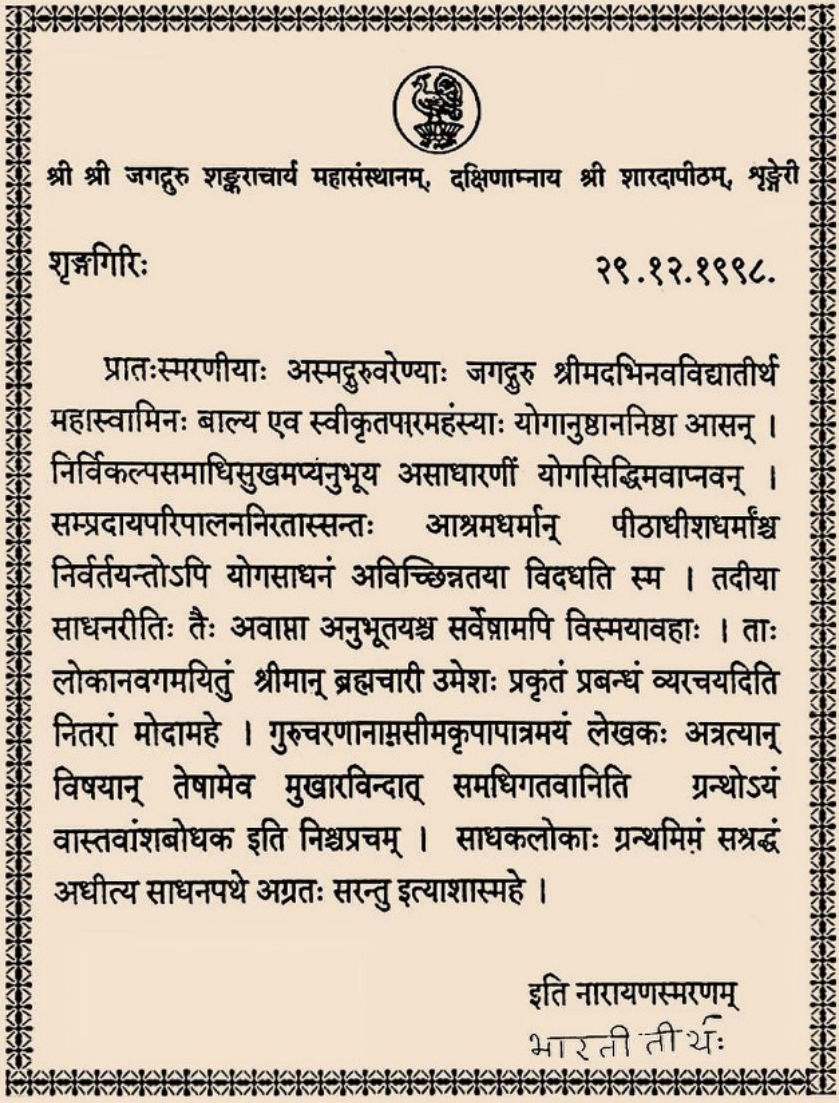

श्री श्री जगद्गुरु शङ्कराचार्य महासंस्थानम्, दक्षिणाम्नाय श्री शारदापीठम्, शृङ्गेरी

शृङ्गगिरिः २९.१२.१९९८.

प्रातःस्मरणीयाः अस्मद्गुरुवरेण्याः जगद्गुरु श्रीमदभिनवविद्यातीर्थ महास्वामिनः बाल्य एव स्वीकृतपारमहंस्याः योगानुष्ठाननिष्ठा आसन् । निर्विकल्पसमाधिसुखमप्यनुभूय असाधारणीं योगसिद्धिमवाप्नवन् । सम्प्रदायपरिपालननिरतास्सन्तः आश्रमधर्मान् पीठाधीशधर्माँश्च निर्वर्तयन्तोऽपि योगसाधनं अविच्छिन्नतया विदधति स्म । तदीया साधनरीतिः तैः अवाप्ता अनुभूतयश्च सर्वेषामपि विस्मयावहाः । ताः लोकानवगमयितुं श्रीमान् ब्रह्मचारी उमेशः प्रकृतं प्रबन्धं व्यरचयदिति नितरां मोदामहे । गुरुचरणानामसीमकृपापात्रमयं लेखकः अत्रत्यान् विषयान् तेषामेव मुखारविन्दात् समधिगतवानिति ग्रन्थोऽयं वास्तवांशबोधक इति निश्चप्रचम् । साधकलोकाः ग्रन्थमिमं सश्रद्धं अधीत्य साधनपथे अग्रतः सरन्तु इत्याशास्महे ।

इति नारायणस्मरणम्

भारती तीर्थः

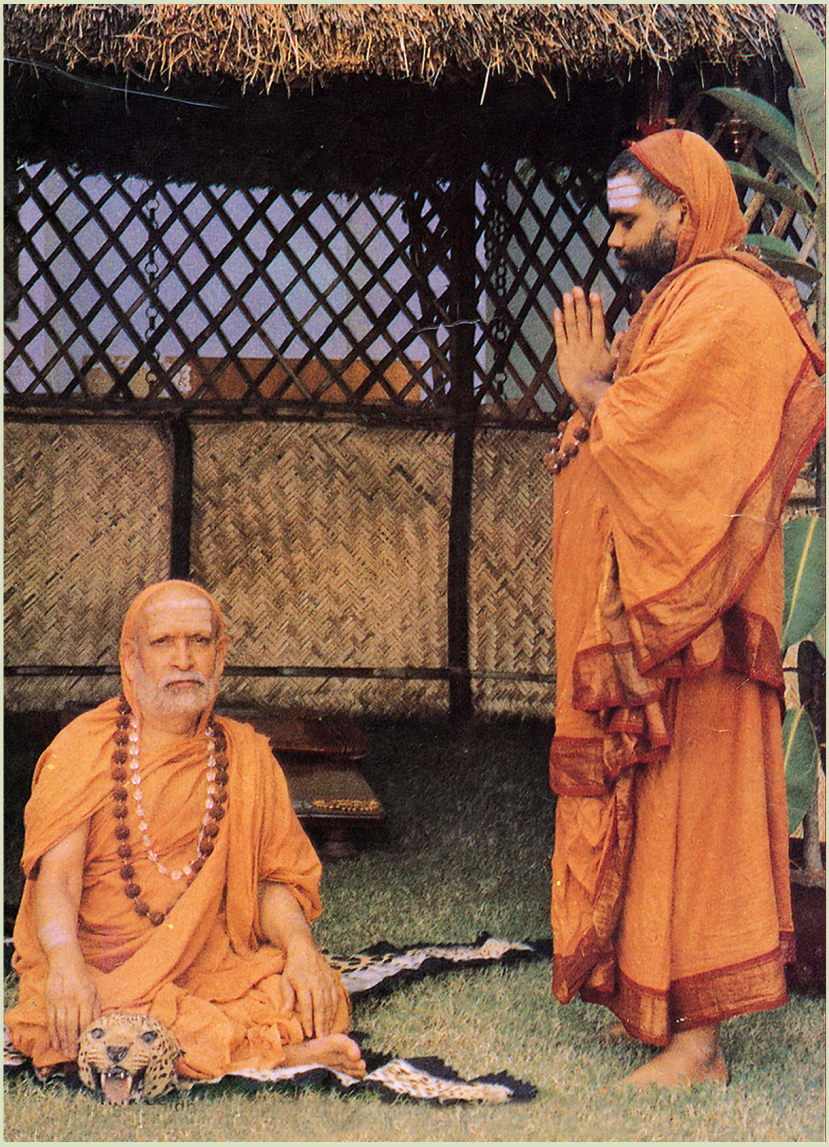

परमपूज्य गुरुजी को प्रणाम करते हुए
परमपूज्य जगद्गुरु श्री भारती तीर्थ महास्वामी जी

श्री शृङ्गेरी शारदा पीठ के 36वें शङ्कराचार्य एवं वर्तमान पीठाधीश्वर
परमपूज्य जगद्गुरु श्री भारती तीर्थ महास्वामी जी को प्रणाम करते हुए
उनके करकमल-सञ्जात परमपूज्य जगद्गुरु श्री विधुशेखर भारती स्वामी जी

आमुख

योगियों के शिरोमणि, सर्वश्रेष्ठ जीवन्मुक्त (जीवित रहते हुए संसार बन्धन से मुक्त), पूर्णता की पराकाष्ठा के मूर्तिमान एवं अहैतुक करुणासागर परमपूज्य जगद्गुरु शङ्कराचार्य श्री अभिनव विद्यातीर्थ महास्वामी जी की आध्यात्मिक साधनाएँ तथा परब्रह्म में उनके संस्थित होने की दिव्यलीला को अति विस्तृत रूप से

"**Yoga, Enlightenment & Perfection**
of His Holiness Jagadguru
Sri Abhinava Vidyatheertha Mahaswamigal"

नामक अंग्रेज़ी पुस्तक में, उन्हीं गुरु महाराज जी के एक निकट शिष्य ने समेकित किया था। परमशिवावतार जगद्गुरु श्री आद्य शङ्कर-भगवत्पादाचार्य जी द्वारा स्थापित दक्षिणाम्नाय शृङ्गेरी श्री शारदा पीठ पर 35वें पीठाधीश्वर के रूप में 35 वर्षों तक परमपूज्य महास्वामी जी विराजमान थे। उनका उल्लेख इस ग्रन्थ में पूज्यभाव से 'गुरुजी' शब्द से किया गया है।

मन्त्र-योग, हठ-योग, भक्ति-योग, कर्म-योग, राज-योग और ज्ञान-योग — इन सभी के देदीप्यमान एवं जीवन्त निरूपण इन महात्मा परमपूज्य श्री अभिनव विद्यातीर्थ महास्वामी जी के इस वृत्तान्त में पाए जा सकते हैं। शृङ्गेरी श्री शारदा पीठ के 36वें जगद्गुरु शङ्कराचार्य परमपूज्य श्री भारती तीर्थ महास्वामी जी ने, उस अंग्रेज़ी ग्रन्थ को अनुमोदन करके अपना श्रीमुख प्रदान किया था। उस ग्रन्थ का पहला मुद्रण 1999 में हुआ था। तब से लेकर वह पुस्तक न केवल कई बार पुनः प्रकाशित की गई है, परन्तु उसके तमिल भाषा अनुवाद व कन्नड़ भाषा अनुवाद क्रमशः 2004 और 2017 में, प्रकाशित हुए हैं; साथ-साथ, देश-विदेश के लाखों लोगों द्वारा इन ग्रन्थों के डिजिटल प्रारूप इंटरनेट द्वारा डाउनलोड किए गए हैं। अब उसी ग्रन्थ के हिन्दी भाषान्तर

"परमपूज्य जगद्गुरु श्री अभिनव विद्यातीर्थ महास्वामी जी के
योग, साक्षात्कार तथा जीवन्मुक्ति"

प्रकाशित हो रहा है।

इस आमुख के अतिरिक्त, इस ग्रन्थ में सर्वत्र लेखक द्वारा प्रयुक्त 'मैं', 'मुझको', 'मुझसे', 'मेरे' इत्यादि शब्द, गुरुजी के उन शिष्य पर ही लागू होते हैं, जो मूल अंग्रेज़ी ग्रन्थ "Yoga, Enlightenment & Perfection" के लेखक हैं।

इस हिन्दी भाषान्तर को विद्वान डॉ॰ सतीश के॰ एस॰, आचार्य, अद्वैत-वेदान्त-विभाग, राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, तिरुपति — इन्होंने अपने बहुत समय तथा परिश्रम लगाकर, अपनी स्वाभाविक एवं बड़ी श्रद्धा के साथ निष्पादित किया है। इस महान प्रयास के लिए उनके प्रति हम हृदय से आभार और अभिनन्दन व्यक्त करते हैं।

हिन्दी मार्ताण्ड श्री के॰ वि॰ श्रीनिवास मूर्ति जी ने अपने सूक्ष्मावधान लगाकर इस पुस्तक के प्रारूप को परिष्कृत किया है। इसी दिशा में श्री दुर्गाप्रसाद पण्डा, श्रीमती अनघा अनिल किंजवडेकर, डॉ॰ मंजुनाथ सुब्बण्ण, श्री अभिनन्द और श्री वि॰ सुब्रह्मणियन् का योगदान भी सराहनीय रहा है। इन सभी गुरुभक्तों एवं धर्म-श्रद्धालुओं के प्रति हम कृतज्ञ हैं।

इस पुस्तक के प्रकाशन को प्रायोजित करने के लिए, हम एम॰ एम॰ फ़ोर्जिंग्स् लिमिटेड संस्था के आभारी हैं।

शृङ्गेरी श्री शारदा पीठ के परमपूज्य जगद्गुरु श्री भारती तीर्थ महास्वामी जी के और तत्करकमल-सञ्जात परमपूज्य जगद्गुरु श्री विधुशेखर भारती स्वामी जी के आशीर्वाद से, इस बहुत ही अनोखे ग्रन्थ को प्रकाशित करने में हमें अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है।

विद्याशङ्कर कृष्णन् — के॰ सुरेश चन्दर

डॉ॰ एच्॰ एन्॰ शङ्कर — डॉ॰ मीनाक्षी लक्ष्मणन्

न्यासिगण, **सेंटर फ़ॉर ब्रह्मविद्या**

विषयसूची

इस हिन्दी भाषानुवाद के मूल अंग्रेज़ी ग्रन्थ के लिए परमपूज्य जगद्गुरु श्री भारती तीर्थ महास्वामी जी का श्रीमुख iii

आमुख v

प्रथम खण्ड 1

1. परमपूज्य जगद्गुरु श्री अभिनव विद्यातीर्थ महास्वामी जी 3
2. परमपूज्य जगद्गुरु श्री चन्द्रशेखर भारती महास्वामी जी 13
3. बाल्यावस्था से संन्यास तक — अध्यात्मिक नींव 25

द्वितीय खण्ड 49

4. हठ-योग 51
5. भक्ति एवं कर्म-योग 79
6. कुण्डलिनी-योग से परिचय 93
7. आत्मा पर मनन 117
8. गहन ध्यान का आरम्भ 127
9. दिव्य रूपों पर ध्यान और समाधि 137
10. कुण्डलिनी का आरोहण एवं अमृत का अवतरण 157
11. दिव्य रूपों से निराकार सत्य तक 169
12. ब्रह्म पर तीव्र मनन और एकाग्रता 181
13. प्रबोध एवं ब्रह्म में संस्थापन 203
14. उत्तरगामी दिव्य लीला 227

प्रथम खण्ड

गुरुजी की आध्यात्मिक साधनाओं और उनकी सीमान्त तक के विवरण मात्र इस पुस्तक का विषय है। इससे सम्बन्धित घटनाएँ गुरुजी के जीवन काल के पाँच वर्ष से कम अवधि के लिए सीमित हैं। इसलिए, गुरुजी के सम्पूर्ण जीवन का एक सङ्क्षिप्त विवरण इस **प्रथम खण्ड** में दिया गया है। चूँकि गुरुजी के सद्गुरु के रूप में परमगुरुजी की — परमपूज्य जगद्गुरु श्री चन्द्रशेखर भारती महास्वामी जी की — भूमिका गहराई से समाहित है, इसलिए परमगुरुजी के बारे में एक सङ्क्षिप्त विवरण भी यहाँ सम्मिलित है। गुरुजी के संन्यास के बाद की आध्यात्मिक साधनाओं की आध्यात्मिक नींव को इस **प्रथम खण्ड** के अन्तिम अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

1931 में लिया गया गुरुजी का भावचित्र

श्रुतायां यदुक्तौ न हि श्राव्यशेषः
सुरूपे च दृष्टे न दृश्यावशेषः।
नतेऽङ्घ्रौ न कृत्यं दयाप्तौ न लभ्यं
न माहात्म्यसीमा च येषां भजे तान्॥

जिनकी महिमा की कोई सीमा नहीं है;
जिनके वचन सुनने पर, सुनने के लिए कुछ भी शेष नहीं रह जाता है;
जिनके सुन्दर रूप देखने पर, देखने के लिए कुछ भी नहीं बच जाता है;
जिनके चरणों में प्रणाम करने के बाद, कुछ भी कर्तव्य नहीं रह जाता है; और
जिनकी कृपा प्राप्त करने पर, कुछ भी प्राप्य नहीं बच जाता है –
उनकी मैं पूजा करता हूँ।

1. परमपूज्य जगद्गुरु श्री अभिनव विद्यातीर्थ महास्वामी जी

[*शृङ्गेरी शारदा पीठ के 36वें जगद्गुरु शङ्कराचार्य परमपूज्य श्री भारती तीर्थ महास्वामी जी द्वारा 1989 अक्टूबर 4 को दिए गए सार्वजनिक प्रवचन और 1993 में लिखे गए निबन्ध के केवल कुछ अंश संक्षेप में प्रस्तुत हैं।*]

हमारे पूज्य गुरुजी प्रातःस्मरणीय जगद्गुरु श्री अभिनव विद्यातीर्थ महास्वामी जी दक्षिणाम्नाय शृङ्गेरी शारदा पीठ के 35वें पीठाधीश्वर के रूप में 35 वर्षों तक विराजमान रहे। इन परम पूजनीय महात्मा का पवित्र जीवन जो विश्वविख्यात है, हर किसी के लिए एक आदर्श है।

इन महापुरुष का जन्म बेंगलूरु में पिङ्गल-संवत्सर के आश्वयुज-कृष्ण-चतुर्दशी (1917 नवंबर 13) को एक पुण्य दम्पती कैपु राम शास्त्री और वेङ्कटलक्ष्मी के ज्येष्ठ पुत्र के रूप में हुआ। उनका नाम 'श्रीनिवास' रखा गया। बचपन से ही ईश्वर की भक्ति, इन्द्रिय-विषयों से विरक्ति, सज्जनों के प्रति प्रीति और सदाचार से सम्पन्न, वे शृङ्गेरी शारदा पीठ के तत्कालीन पीठाधीश्वर परमपूज्य जगद्गुरु श्री चन्द्रशेखर भारती महास्वामी जी की असीम कृपा के पात्र बने। महास्वामीजी ने ही उस बालक को शृङ्गेरी लाने की व्यवस्था की।

उनका उपनयन शृङ्गेरी में ही सम्पन्न हुआ। तत्पश्चात्, उन्होंने विद्वानों से वेदों और संस्कृत साहित्य की शिक्षा अच्छे ढंग से प्राप्त की। जब उनका 14वाँ वर्ष चल रहा था, तब उनके गुरु पूज्य महास्वामीजी ने उन्हें संन्यास आश्रम की दीक्षा से अनुगृहीत किया और 'अभिनव विद्यातीर्थ' का योगपट्ट देकर उन्हें पीठ के उत्तराधिकारी के रूप में नामित किया। फिर, न्यायशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ करके, उन्होंने इने-गिने वर्षों में ही उसमें असाधारण प्रवीणता प्राप्त कर ली। जब वे अपने छात्रों को पढ़ाते थे, उस विषय में उनकी अद्वितीय बौद्धिक क्षमता सहज प्रकट हो होती थी। अपने शिष्य की प्रगति की निरन्तर इच्छा रखने वाले उनके आदरणीय गुरुजी ने, अपने शिष्य के शास्त्र-अध्ययन के बारे में जानकर जो आनन्द का अनुभव किया, वह उन्हीं के वचनों से निस्सन्देह समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ, उन्होंने इसके बारे में एक पत्र में लिखा है —

भवदीय-पत्रिकया भवच्छरीरे निरामयतामध्ययनाध्यापन-प्रक्रियां च निष्प्रत्यूहं निर्वर्त्यमानां विदित्वा निरर्गलमानन्दं समवापि।

(गुरुजी के नाम परमगुरुजी का पत्र)

(आपके शरीर की स्वस्थता और बिना किसी अड़चन के चल रहे आपके अध्ययन-अध्यापन की प्रक्रिया को आपके पत्र से जानकर, मुझे असीम आनन्द का अनुभव हुआ।)

उसके बाद, अपने गुरुजी से वेदान्त शास्त्र का अध्ययन निष्ठापूर्वक करके, उसमें भी उन्होंने उत्कृष्ट प्रवीणता प्राप्त कर ली। संस्कृत साहित्य में बहुत परिश्रम करने के बाद, आप उसमें भी पारङ्गत हो गए; उस भाषा में अच्छे ढंग से लिखने में और उसे सर्वथा बिना त्रुटि के बोलने में सक्षम बन गए। यद्यपि कविताओं की रचना में उनकी अधिक आसक्ति तो नहीं थी, फिर भी उन्होंने अपने गुरुजी का महिमागान सुन्दर पद्यों में किया है। उनमें से दो उदाहरण यहाँ दिए गए हैं —

पादप्रभा-विनिर्धूताविद्यान्ध-तमसाय ते।
यतये चितिनिर्विष्ट-चित्तायास्तु नमो मम॥

(परमगुरुजी के बारे में गुरुजी की रचना)

(जिनका चित्त चैतन्य में लीन है, जिनके चरणों की प्रभा अविद्या के घन अन्धकार को नष्ट करती है, उन यति को मेरा नमन हो।)

श्रीमतां देशिकेन्द्राणां पादपद्मे नमाम्यहम्।
मन्दोऽपि वन्दनाद्येषां विन्देत गुरु-तुल्यताम्॥

(परमगुरुजी के बारे में गुरुजी की रचना)

(मैं गुरु-सम्राट के उन दो चरणकमलों में नमन करता हूँ, जिनके वन्दन से मन्द बुद्धि वाला भी गुरु के समान बन जाता है।)

धर्म-शास्त्र के ग्रन्थों को गहराई से परखते हुए, वे शिष्यों के धर्म से जुड़े सन्देहों को प्रमाण वचनों तथा उदाहरणों सहित सुलझाते थे। इसके लिए उन्हें अपने गुरुजी की प्रशंसा मिली। संस्कृत, तेलुगु, तमिल तथा कन्नड

भाषाओं में धाराप्रवाह बोलने में सक्षम, उन्होंने हिन्दी भाषा में भी दक्षता प्राप्त कर ली। उत्तर-भारतीय विद्वान शुद्ध हिन्दी में उनके प्रवचनों को सुनकर आश्चर्य चकित हुआ करते थे।

उनके गुरुजी प्रायः बहुत अन्तर्मुखी रहते थे; उनके मन में मठ से सम्बन्धित गतिविधियों के प्रति लेशमात्र भी अभिरुचि नहीं थी। गुरुजी ने अपने गुरुजी की आज्ञा का पालन करते हुए, मठ की सभी गतिविधियों पर ध्यान देते हुए, उनके उचित सञ्चालन को सुनिश्चित करते हुए, भक्तों को दर्शन देते हुए, तथा उनके साथ संवाद बनाए रखते हुए, मठ की प्रसिद्धि की रक्षा की। "गुरुजी (परमपूज्य जगद्गुरु श्री चन्द्रशेखर भारती महास्वामी जी) की षष्टिपूर्ति के शुभ अवसर पर, लोक कल्याण के लिए एक महायज्ञ का आयोजन किया जाना चाहिए" — भक्तों की ऐसी प्रार्थना को पुष्ट करते हुए, उन्होंने विजय-संवत्सर (1953) में, एक सहस्र-चण्डिका-याग का आयोजन भव्यता से किया।

स्वतन्त्र भारत के पहले राष्ट्रपति, श्री बाबू राजेन्द्र प्रसाद 1954 अगस्त 24 को परमगुरुजी (परमपूज्य जगद्गुरु श्री चन्द्रशेखर भारती महास्वामी जी) के दर्शन करने शृङ्गेरी आए थे। उस समय, गुरुजी ने अपने गुरुजी के साथ उनके दर्शन व संवाद के लिए आवश्यक व्यवस्था की; तथा अपने गुरुजी के संस्कृत भाषा के सन्देश को उन्हें हिन्दी में समझाया, और उन्होंने हिन्दी में जो कुछ भी कहा, उन्हें अपने गुरुजी को संस्कृत में निवेदित किया। इस प्रकार, राष्ट्रपति और अपने गुरुजी को अतीव सन्तुष्ट किया। उसी वर्ष, परमगुरुजी ब्रह्मलीन हो गए। बहुत सन्तप्त होते हुए भी, गुरुजी ने मठ की परम्परा के अनुसार, अपने गुरु की आराधना आदि कर्तव्यों को अनुष्ठित किया। उन्हें जय-संवत्सर आश्वयुज-कृष्ण-पञ्चमी (1954 अक्टूबर 16) के दिन शृङ्गेरी श्री शारदा पीठ के पीठाधीश्वर के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया।

पीठारोहण के उपरान्त, गुरुजी अपने पूज्य गुरु के ध्यान में शृङ्गेरी में लगभग डेढ़ वर्ष तक रहे। धार्मिक दिग्विजय यात्रा करने के लिए, शिष्यों ने गुरुजी से अनेक प्रकार से अनुरोध किया। उनकी प्रार्थनाओं को स्वीकार करते हुए, वे 1956 में यात्रा पर शृङ्गेरी से निकले। उन्होंने जगद्गुरु श्री आद्य शङ्कर भगवत्पाद जी के अवतार क्षेत्र कालडी पहुँचकर, वहाँ पर चातुर्मास्य का

अनुष्ठान किया और नवरात्रि उत्सव मनाया। इसके बाद, उन्होंने छह वर्षों तक दक्षिण भारत की यात्रा की। प्रारम्भ से ही शृङ्गेरी मठ में, शिष्यों को अनुगृहीत करने के लिए, पीठाधीश्वरों की यात्रा करने की एक पारम्परिक प्रथा रही। तथापि, हमारे गुरुजी के समान किसी अन्य आचार्य द्वारा, कन्याकुमारी से हिमालय तक, बार-बार यात्रा करने का कोई उल्लेख मठ के अभिलेखों में नहीं मिलता।

आपके प्रवचन सुन्दर तथा सुबोध रहते थे। वेदान्त के तत्त्वों जैसे गम्भीर विषयों को भी लोगों को सरलता से समझाते थे। उनके अनुग्रह व्याख्यानों को सुनने वालों के अन्तःकरण में, उत्तम और महान परिवर्तन आया करते थे। उनके वचनों की महानता ऐसी थी कि श्रोता अच्छे मार्ग पर चलने के लिए प्रवृत्त हो जाते थे। उनके प्रवचनों के माध्यम से, जनसामान्य भी श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण के विषयों को सरलता से समझ सकते थे, जो अन्यथा उनके लिए समझना कठिन होता था। उनमें लेशमात्र भी अन्धविश्वास नहीं था। पूर्वजों का मानना था कि धरती स्थिर है, जबकि आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि वह गतिशील है।

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः पर-प्रत्यय-नेयबुद्धिः॥
(मालविकाग्निमित्र 1.2)

(प्राचीन होने मात्र से सभी सही नहीं हैं; आधुनिक होने से काव्य बुरा नहीं होता। बुद्धिमान लोग उसका परीक्षण करके (जो सही है) उसको चुनते हैं। नासमझ व्यक्ति दूसरों के विश्वासों का अनुकरण करता है।)

कविश्रेष्ठ कालिदास के इस कथन के अनुरूप, गुरुजी ने पृथ्वी की गतिशीलता के पक्ष को ही माना। इस प्रकार, कई विषयों में प्राचीनता और आधुनिकता के भेद को उपेक्षा करते हुए, उन्होंने केवल उसी को मान्यता दी जो उचित था और प्रमाण सहित था। उनके मनोभाव की विशालता को अन्यों में देखना कठिन था।

उनके सम्पूर्ण इन्द्रिय निग्रह, शुद्ध चरित्र और अगाध पाण्डित्य के बारे में पर्याप्त रूप से बताने के लिए, मैं स्वयं को सक्षम नहीं समझता।

शकुनीनामिवाकाशे जले वारिचरस्य च।
पदं यथा न दृश्येत तथा ज्ञानवतां गतिः॥

(*महाभारत*, गीता प्रेस संस्करण 12.181.19)

(आकाश में पक्षियों के एवं जल में मछलियों के पद के चिह्नों जैसे तत्त्व को जाननेवालों के मार्ग को नहीं जाना जा सकता।)

हमारे गुरुजी तत्त्व को जाननेवालों में श्रेष्ठतम थे। भगवत्पाद जी की भाँति, छोटी उम्र में ही संन्यास ग्रहण करनेवाले उनमें कामनाओं की गन्धमात्र भी नहीं थी। केवल मोक्ष से वे परिचित थे।

वे लोगों को अपने साथ उपयुक्त विषयों पर ही संवाद के लिए अवसर देते थे, प्रत्युत व्यर्थ चर्चा के लिए नहीं। उन्होने कहा है, "उपनिषदों का अध्ययन करने के बाद, उनमें प्रतिपादित इस विषय को हम समझते हैं —

नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्।

(बृहदारण्यक-उपनिषद् 4. 4.21)

(शब्दों के बारे में अधिकता से सोचना नहीं चाहिए, क्योंकि वह वागिन्द्रिय को विशेष रूप से क्लान्त कर देता है।)

तो निरर्थक भाषण में समय व्यर्थ करने की अपेक्षा, मौन रहना ही श्रेष्ठतर है। मौन रहने से, हम कम से कम कण्ठशोषण से बच सकते हैं।" उनका विचार था कि हमें केवल वही बोलना चाहिए जो उपयोगी हो। श्री शङ्कर भगवत्पाद जी की कृतियों का अध्ययन करके, उनमें निहित तत्त्वों का मनन करना उन्हें प्रिय था। उन्होंने मुझे निर्देश दिया, "सदैव भगवत्पाद जी द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों के बारे में चिन्तन करते रहना चाहिए। हम अभी-अभी माँ शारदा जी के मन्दिर से लौटे हैं। हमने देवी को नमस्कार किया। यह एक शारीरिक चेष्टा है। भगवत्पाद जी द्वारा बोधित तत्त्वों पर निरन्तर चिन्तन करना हमारी मानसिक चेष्टा होनी चाहिए। वही वास्तव में जन्म को सार्थक बनाएगा।"

कालिदास ने अपने रघुवंश में महाराज दिलीप के बारे में कहा है —

द्वेष्योऽपि संमतश्शिष्टस्तस्यार्तस्य यथौषधम्।
त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता॥

(रघुवंश 1.28)

(जिस प्रकार रोगी के लिए (कड़वी होने पर भी) औषधि मान्य होती है, उसी प्रकार उसे (दिलीप महाराज के लिए) एक अच्छा व्यक्ति, द्वेषी होने पर भी मान्य था। साँप से काटे जाने पर जिस प्रकार अँगुली त्याज्य होती है, वैसे प्रिय भी दुष्ट हो, तो वह उसे त्याज्य था।)

उन्होंने मुझसे कहा है, "हमें ऐसा होना चाहिए।" जो ऐसे सद्गुण दिलीप में थे, वे हमारे गुरुजी में थे। उनमें करुणा छलकती रहती थी। उनका मानना था कि जीवन लोकहित हेतु होना चाहिए। अपने स्वाभाविक क्षमाशीलता के कारण, वे दूसरों द्वारा अपने प्रति किए गए अपकारों को कदापि ध्यान में नहीं रखते थे। उन्होंने मुझे कहा,

"कृतस्य प्रतिकर्तव्यम् —

(प्रतीकार करना चाहिए —)

इस भावना को कदापि अवकाश नहीं देना चाहिए। वह राजसिक स्वभाव वालों के लिए है। हम तो संन्यासी हैं।" वे भूल करनेवालों को तुरन्त क्षमा कर देते थे और उन्हें आशीर्वाद भी देते थे। ऐसे सैकडों निदर्शन मैंने देखे हैं। किसी की भी भावनाओं को आहत करने से वे दूर रहते थे।

शृङ्गेरी में गुरुजी ने अनेक योजनाओं को प्रारम्भ किया। भक्तों के निवास के लिए पहले केवल एक अतिथिगृह था। गुरुजी ने शङ्कर-कृपा, शङ्कर-निकेतन, जयशङ्कर-निकेतन, शारदा-निकेतन और भारती-विहार जैसे कई भवनों का निर्माण करवाया और भक्तों को बहुत लाभ पहुँचाया। उन्होंने "शारदा-धन्वंतरि-धर्मार्थ-अस्पताल" की स्थापना की। गायों की सुरक्षा के लिए, उन्होंने एक विशाल गौशाला और हाथियों के लिए, एक गजशाला का भी निर्माण करवाया। उनके अथक प्रयासों के कारण, मठ की विभिन्न शाखाएँ, धर्मशालाएँ और पाठशालाएँ अस्तित्व में आईं। और जो पहले से थीं, वे विकसित की गईं।

गुरुजी वेद तथा शास्त्रों के प्रचार-प्रसार में कटिबद्ध थे। हर वर्ष शङ्कराचार्य-जयन्ती और विनायक-चतुर्थी के उपलक्ष्य में, विद्वत्सभा का आयोजन करते थे और विद्वानों को सम्मानित करते थे। सम्पूर्ण देश में संस्कृत के प्रसार के लिए उन्होंने सुरसरस्वती-सभा नामक एक संस्था प्रारम्भ की। उनके पीठाधिपत्य के कार्यकाल में, मठ द्वारा कई पुस्तकें प्रकाशित की गईं। उन्होंने विभिन्न स्थानों पर कई धार्मिक गतिविधियों का शुभारम्भ किया। उदाहरण के लिए, उनके कारण से ही शृङ्गेरी में कई सहस्रचण्डी-यागों, अतिरुद्र-यागों और कोटि-कुंकुमार्चनाओं के समारोह सम्पन्न हुए। उनका हर कार्य, उनकी दूरदर्शिता और अनुकम्पा के लिए आदर्श था।

जब मैं ब्रह्मचारी था, तब भी उन्हें मुझसे बहुत लगाव था। शृङ्गेरी में मेरे आवास के प्रारम्भिक दिनों में, एक बार मैं प्रदोष के दिन नदी को पारकर गया। उस रात, पूजा में जब मैं बैठा था, तो उन्होंने पूछा, "क्या तुम नदी के उस पार गए थे?" "हाँ, मैं गया था," मैंने उत्तर दिया। उन्होंने कहा, "नरसिंहवन में ही रहना तुम्हारे लिए पर्याप्त है। मैं तुम्हारा निरिक्षण करता रहूँगा।" इससे मेरे प्रति उनकी चिन्ता और प्यार को मैंने समझा। उन्होंने मुझसे कहा कि अध्ययन करते समय, मन को विचलित होने नहीं देना चाहिए। फिर उन्होंने मुझसे यह भी कहा, "यदि तुम मन को विचलित करने वाले अभ्यासों को बढ़ाते हो, तो तुम्हारा अध्ययन कुण्ठित हो जाएगा। दीर्घकाल के उपरान्त, तुम्हारे आवश्यक परिश्रम करने पर भी, तुम्हें शास्त्रों में परिणति प्राप्त नहीं हो पाएगी। यदि मैं कभी भी अपने अध्ययन से चूक जाता, तब मेरे गुरुजी मुझे डाँटते थे।"

इस प्रकार उन्होंने अपने अनुभव सुनाए और मुझे परामर्श दिया कि मेरा आचरण कैसा होना चाहिए, तथा मठ की प्रथाओं का पालन और भक्तजनों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए। वे प्रायः कहा करते थे, "हमारे यहाँ आने वालों का भाव चाहे जैसा भी हो, हमें सभी के प्रति प्रेम दिखाना चाहिए। हमें इसे कभी नहीं भूलना चाहिए। किसी को यह नहीं लगना चाहिए कि उसकी उपस्थिति हमें प्रिय नहीं है।"

अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वः प्रकृतिष्वप्यचिन्तयत्।
(रघुवंश 8.8)

(प्रत्येक प्रजाजन को लगता था, "मैं ही उनका (अज महाराज का) प्रिय हूँ।")

सम्राट अज के बारे में कविश्रेष्ठ कालिदास का यह वचन, गुरुजी में पूर्ण रूप से अन्वर्थ था। सद्गुणों के भण्डार, ज्ञान की खनि और धैर्य की निधि, हमारे पूजनीय गुरु जगद्गुरु श्री अभिनव विद्यातीर्थ महास्वामी जी ने अपनी कीर्ति से जगत् को इस प्रकार व्याप्त कर लिया जिस प्रकार सूरज अपनी किरणों से सारे विश्व को आच्छादित कर लेता है। आपने शुक्ल-संवत्सर के भाद्रपद-कृष्ण-सप्तमी (1989 सितंबर 21) के दिन, विदेह-मुक्ति प्राप्त कर ली।

जातः पिङ्गल-हायने यतिरभूद्यश्च प्रजापत्यभि-
ख्येऽब्दे पीठपतिर्बभूव जय-वर्षे यश्च शृङ्गाचले।
कीर्तिं प्राप्य दिगन्तगां तनुमिमां यः शुक्ल-वर्षे जहौ
विद्यातीर्थ-गुरुर्जयत्यभिनवो लोकान्सदा पालयन्॥

(परमपूज्य जगद्गुरु श्री भारती तीर्थ महास्वामी जी द्वारा अपने गुरुजी के बारे में वर्ष 1989 में रचित श्लोक)

(पिङ्गल (1917) वर्ष में जन्म लेते हुए, उन्होंने प्रजापति (1931) वर्ष में संन्यास ग्रहण किया और जय (1954) वर्ष में वे शृङ्गेरी के पीठाधीश्वर बने। सभी दिशाओं की सीमा तक फ़ैली हुई प्रसिद्धि प्राप्त करने के बाद, उन्होंने शुक्ल (1989) वर्ष में शरीर त्याग दिया। सभी की सदैव रक्षा करने वाले गुरु अभिनव विद्यातीर्थ जी विजयी हैं।)

2. परमपूज्य जगद्गुरु श्री चन्द्रशेखर भारती महास्वामी जी

[*परमगुरुजी (परमपूज्य जगद्गुरु श्री चन्द्रशेखर भारती महास्वामी जी) के बारे में, पूर्णतः गुरुजी (परमपूज्य जगद्गुरु श्री अभिनव विद्यातीर्थ महास्वामी जी) के प्रवचनों, श्रीमुखों और रचनाओं के चयन निम्नलिखित वृत्तान्त के अन्तर्गत हैं।*]

श्रीचन्द्रशेखरभारतीति-प्रथित-प्रातःस्मरणीय-नामधेया अस्मदाचार्यपादाः कृत-तपश्चर्याः सर्वतन्त्र-स्वतन्त्राः शास्त्रोपदिष्टार्थानुष्ठान-निष्ठा-गरिष्ठाः अपरोक्षी-कृतात्मतत्त्वा जीवन्मुक्ता अभूवन्।

(परमगुरुजी द्वारा रचित विवेक-चूडामणि की व्याख्या में गुरुजी की प्रस्तावना)

(सादर प्रातःस्मरणीय हमारे पूज्य गुरुजी श्री चन्द्रशेखर भारती महास्वामी जी तपस्या को सम्पूर्ण किए हुए, सारे दर्शनों की सीमाओं से परे, शास्त्रोपदेशों के अनुष्ठान में निष्ठावानों में श्रेष्ठ, आत्मतत्त्व का साक्षात्कार किए हुए, जीवन्मुक्त (जीवित रहते हुए भी संसार बन्धन से मुक्त) थे।)

अस्मदाचार्यपादाः ब्रह्मनिष्ठा ब्रह्मपरा जीवन्मुक्ताः समस्तानामास्तिकानाम् आदर्श-चरिता अभूवन्।

(भाष्यस्वामी जी के 'श्रीजगद्गुरु-चरितामृत' ग्रन्थ के लिए गुरुजी का श्रीमुख)

(हमारे श्रद्धेय गुरुजी सदैव ब्रह्मनिष्ठ थे, ब्रह्म को ही परम मानते थे और जीवन्मुक्त (जीवित रहते हुए भी संसार बन्धन से मुक्त) थे; उनका जीवन सभी आस्तिकों के लिए आदर्श था।)

अविद्या-ध्वान्तानां दिनमणिरनन्तान्तरगतो
विषीदद्विद्वद्धृत्कुमुद-वनराका-हिमकरः।
पराध्वामित्राणां विषय-गहनानां हुतवहो
गुरुस्तेजोरूपो जयति जनतानन्दथुरयम्॥

(अज्ञान के अन्धकार में रहने वालों के लिए वे सूर्य के समान हैं, जो अनन्त एवं भीतर स्थित हैं। विद्वानों के झुके हुए नीलकम-रूपी हृदयों के समूह के लिए, वे पूर्णिमा का चन्द्रमा हैं। इन्द्रिय-विषय के जंगल में फँसे और परतत्त्व

के मार्ग में बिना मित्रों के जाने वालों के लिए, वे मार्ग-प्रकाशक ज्वलन्त दीपक हैं। सभी को आनन्दित करनेवाले, वे प्रकाशमान गुरु विजयी हैं।)

वन्दे वन्दारु-मन्दारं वन्दनीयं बुधोत्तमैः।
आनन्द-कन्दलं तीर्थ-वारिधिं देशिकोत्तमम्॥

(परमगुरुजी के बारे में गुरुजी की रचना)

(मैं उन उत्तम गुरु को प्रणाम करता हूँ जो वन्दन करनेवालों के लिए कल्पवृक्ष (मनोकामना पूर्ण करने वाला वृक्ष) हैं, श्रेष्ठ तत्त्वज्ञानियों द्वारा वन्दनीय हैं, आनन्द के नए अङ्कुर हैं और शास्त्रों के समुद्र हैं (अर्थात्, शास्त्रों में पारङ्गत हैं)।)

मेरे गुरुजी ब्रह्मज्ञानी थे और किसी कार्य या कारण पर निर्भर नहीं रहते थे। संन्यास ग्रहण, शास्त्रों का अध्ययन और आध्यात्मिक साधना — इनके उपरान्त ही उनको अन्तर्मुखता प्राप्त नहीं हुई थी। वह उनके जन्म से ही प्रकट हुई थी। वैराग्य तीन प्रकार का होता है — तीव्र, मध्यम और मन्द। मन्द वैराग्य वह है कि जब कुछ समस्याएँ उठती हैं, तो किसी को लगता है, "इस संसार की क्या आवश्यकता है?" तीव्र वैराग्य वह है जिसमें सत्पुरुषों के सङ्गत के कारण, ऐसी भावना उत्पन्न हो जाती है — "इस संसार को तत्काल ही त्याग देना चाहिए।" यदि किसी के सिर पर आग लगी हो, वह उसे बुझाने के लिए दौड़ पड़ता है। मेरे गुरुजी का वैराग्य इस प्रकार का था। उनका वैराग्य इतना तीव्र था कि यद्यपि वे इतने बड़े मठ में एक पीठाधीश्वर के रूप में रहते थे, फिर भी उनके मन में कभी यह विचार नहीं आया कि वे इतने बड़े पद पर विराजमान हैं।

करतलभिक्षस्तरुतलवासः (मोहमुद्गर 16)

(वह अपनी हथेलियों में भिक्षा के रूप में भोजन प्राप्त करता है और पेड़ों के तल पर रहता है।)

वे इस मनोभाव के साथ मठ में रहते थे। परन्तु, जब धार्मिक कार्यों और भक्तों के कल्याण से सम्बन्धित गतिविधियों की बात होती थी, तब वे भगवद्गीता के निम्नलिखित शब्दों के अनुसार कार्य किया करते थे —

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्। (भगवद्गीता 3.22-24)

(हे पार्थ! मुझे इन तीनों लोकों में न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करना है; फिर भी, मैं कर्म में ही बरतता हूँ। हे पार्थ! यदि मैं बिना आलस्य के कार्यों में न बरतूँ, तो लोग सभी प्रकारों में मेरे पथ का अनुसरण करेंगे। अगर मैंने कर्म नहीं किया, तो ये लोक नष्ट हो जाएँगे।)

दूसरों को ध्यान में रखते हुए, उन्होंने कहा, "आप सभी ने मुझे एक बड़े पीठाधीश्वर का नाम दिया है। भले ही मुझे पूजा करनी चाहिए या नहीं और फल प्राप्त करना चाहिए या नहीं, अगर मैं पूजा नहीं करूँ, तो आप क्या कहेंगे? 'यहाँ तक कि स्वामीजी भी पूजा नहीं करते हैं। जिस कार्य में वे स्वयं रुचि नहीं रखते, उसमें हमें क्यों बरतना चाहिए?' इसलिए, मुझे पूजा करनी चाहिए। तब आप लोग इस प्रकार सोचेंगे — 'श्रेष्ठ व्यक्ति स्वयं पूजा में संलग्न होते हैं। यह उनके लिए आवश्यक हो या नहीं भी हो, परन्तु हमें इसकी आवश्यकता है। इसलिए हमें इसे करनी चाहिए।' इस प्रकार सोचकर आप भी वैसा ही करेंगे।" जो मेरे गुरुजी के समकालीन थे, उन्हें अपने अपने अनुभवों द्वारा अवगत था कि वे एक महात्मा थे।

वे मेरे परमगुरुजी — परमपूज्य जगद्गुरु श्री सच्चिदानन्द शिवाभिनव नृसिंह भारती महास्वामी जी — के प्रति बहुत समर्पित थे। (गुरुजी की बाल्यावस्था में) उनकी लालसा थी, "यह कितना अद्भुत होता अगर किसी प्रकार मेरे घर में गुरुजी की पादुकाएँ होतीं और मैं उनकी पूजा कर सकता।" ईश्वर पर हमारी आस्था और भक्ति हो, तो भगवान दयालु होने के कारण, हम जो कुछ भी चाहते हैं, वह अपने आप प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार, उनकी आस्था के कारण, मेरे गुरुजी ने पादुकाओं को प्राप्त किया। उन्होंने सोचा, "मैं पादुकाओं के प्रति बहुत ही उत्सुक था और वे स्वयं मेरे पास आ गए।" इसके बाद, वे प्रतिदिन उनकी पूजा करते थे। मेरे गुरुजी की विशेषता यह

थी कि वे अपने गुरु के मुख से जो भी शब्द निकलते थे, उन्हें बड़ी श्रद्धा के साथ अपनी स्मृति में रखते थे।

(जब वे ब्रह्मचारी थे) मेरे गुरुजी को मठ की पाठशाला के छात्र के रूप में संस्कृत पढ़ने का अवसर मिला। उन्होंने एक ही वर्ष में दो कक्षाओं में उत्तीर्ण होना अपना लक्ष्य बना लिया। यदि एक बार उन्हें कुछ भी सिखाया जाता, तो वही पर्याप्त था; वे उसे ग्रहण करते थे। मठ की पाठशाला की चौथी कक्षा में पहुँचने के बाद, अध्ययन के साथ-साथ, उन्होंने उनसे निचली कक्षाओं के छात्रों को पढ़ाने का काम आरम्भ किया। उनके शिक्षक उनसे कहते थे, "आपको कक्षाएँ लेनी चाहिए। आप अच्छा पढ़ाते हैं।" (उनकी ब्रह्मचर्य अवस्था में शास्त्रों के अध्ययन के लिए) बेंगलूरु भेजने से पहले, मेरे परमगुरुजी ने उन्हें एक महामन्त्र में दीक्षित किया। फिर, उन्होंने उनसे कहा, "तुम्हारे लिए और जिनको तुम पढ़ाते हो, उनके लिए भी, यह भगवान की कृपा प्राप्त करने का साधन बनेगा।"

मेरे गुरुजी के प्रस्थान से पहले, मेरे परमगुरुजी ने उन्हें परामर्श दिया, "तुम अध्ययन करोगे, परन्तु यह धन के लिए नहीं होना चाहिए। तो किस उद्देश्य से? ज्ञानप्राप्ति के लिए। मुख्य ज्ञान तो आत्म-साक्षात्कार ही है। तुम्हें वह प्राप्त हो जाना चाहिए। इसीलिए, मैं तुम्हें शास्त्रों के उच्च अध्ययन के लिए भेज रहा हूँ। आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए, गुरु से तत्त्व का श्रवण करना, जो सिखाया जाता है, उस पर चिन्तन करना और तत्त्व पर मन को एकाग्र करना बहुत आवश्यक है। परन्तु, श्रवण और मनन के सफल होने के लिए, मन को शुद्ध होना चाहिए। मन को शुद्ध होने के लिए, शास्त्रोक्त साधनाओं को ठीक से अनुष्ठान करना आवश्यक है। शास्त्र-विहित कर्मों को समझने के लिए, पूर्व-मीमांसा-शास्त्र अत्यधिक सहायक है। इसीलिए, बेंगलूरु में एक छात्र के रूप में सर्वप्रथम पूर्व-मीमांसा-शास्त्र का अध्ययन करो।"

तदनुसार, मेरे गुरुजी ने भाट्ट-दीपिका इत्यादि मीमांसा ग्रन्थों के अध्ययन में पर्याप्त समय लगाया। मीमांसक-शिरोमणि वैद्यनाथ शास्त्री जी द्वारा उनका अध्यापन हुआ। उसके बाद (संन्यासी बनने के बाद), उनके लिए न्याय के विद्वानों में अग्रगण्य विरूपाक्ष शास्त्री जी द्वारा, अध्यापन कराने की व्यवस्था

की गई। उन्होंने प्रातः अद्वैत-वेदान्त और अपराह्न न्याय-शास्त्र का अध्ययन किया। तीन वर्षों में ही उन्होंने दोनों शास्त्रों का अध्ययन पूर्ण कर लिया। शृङ्गेरी मठ के पीठाधीश्वरों की शृङ्खला में, ज्ञान और तपस्या की एक धारा प्रवाहित थी; उन्होंने उस प्रवाह की गति और बढ़ा दी।

वेदान्त शास्त्र को पढ़ाने की एक पद्धति यह होती है कि किसी विषय को पंक्तिशः समझाया जाना। एक अन्य पद्धति है, अनुभव के साथ विषयों का विवरण देना। यह दूसरी पद्धति उनके बोधन में विशेष रूप से देखने को मिलती थी और अत्यधिक आनन्ददायिका थी। यद्यपि मेरे गुरुजी एक प्रकाण्ड विद्वान थे, तथापि उनमें लेशमात्र भी अहङ्कार नहीं था। परन्तु, जब कभी दुर्मत का खण्डन करना अनिवार्य लगता, तब वे उचित प्रतिक्रिया देने की अपनी क्षमता का प्रदर्शन किया करते थे। प्रतिसांवतसरिक विद्वत्सभा के समय, शास्त्र चर्चा के अवसर पर यदि कोई भी कुछ भी नवीन विषय प्रस्तुत करता, तो वे उससे अत्यधिक प्रसन्न हुआ करते थे। यदि उन्होंने किसी अन्य में लेश मात्र का भी ज्ञान देखा, तो वे अत्यधिक आनन्द का अनुभव करते थे।

मेरे गुरुजी को संन्यासी बनने का योग था। एक दिन, मार्कण्डेय ब्रह्मचारी, शिवानन्द और मेरे गुरुजी (जो उस समय ब्रह्मचारी थे) अपने गुरु के दर्शन के लिए गए। परमगुरुजी ने उन्हें अपने साथ कालभैरव मन्दिर आने के लिए कहा। जब मन्दिर में बैठे, तब उन्होंने मेरे गुरुजी के मुख को देखते हुए, तीन श्लोकों को सुनाया।

संसार-नामक-सरिन्नाथोत्तरणे तवास्ति यदि वाञ्छा।
बालक श्रुणु मद्वचनं श्रुतिमस्तक-संमतं हितोदर्कम्॥
प्रविधाय सशिख-वपनं छित्वा यज्ञार्थमाहृतं सूत्रम्।
स्वीकृत-पारमहंस्यः स्थिरतर-साधनचतुष्टयोपेतः॥
श्रद्धाभक्ति-युतात्मा प्रविचारय तत्त्वमात्मनः सुचिरम्।
सद्गुरुमुखाम्बुजात-स्रवदागमशीर्ष-वाक्यपीयूषैः॥

(परमपूज्य श्री सच्चिदानन्द शिवाभिनव नृसिंह भारती महास्वामी जी की वाणी)

(हे बालक! यदि भवसागर को पार करने की तुमारी इच्छा है, तो मेरी बात सुनो, जो उपनिषदों से संमत और लाभकारी है। शिखा सहित तुम्हारा सिर मुण्डवाने के बाद, यज्ञों के अनुष्ठान के लिए धारण किए गए पवित्र जनेऊ को फाड़कर, परमहंस-संन्यास ले लो। अति दृढ़ साधन-चतुष्टय से सम्पन्न होते हुए, श्रद्धा एवं भक्ति के साथ सदगुरु के मुख-कमल से बहते आने वाले उपनिषदों के अमृत-तुल्य वचनों द्वारा, आत्मतत्त्व के विषय में दीर्घ काल तक चिन्तन करो।)

यद्यपि मेरे परमगुरुजी ने मेरे गुरुजी को संन्यास देने की इच्छा के बारे में व उन्हें उत्तराधिकारी चुनने के बारे में उनसे नहीं कहा, फिर भी, उन्होंने मेरे गुरुजी के मुख को देखते हुए मूल्यवान उपदेश से जुड़े इन श्लोकों को सुनाया। इस प्रकार, उन्होंने मेरे गुरुजी के मन में परिपक्वता ला दी। जब मेरे परमगुरुजी को प्रतीत हुआ कि उनके शरीर ने अपना उद्देश्य पूरा कर लिया है, तब उन्होंने मेरे गुरुजी के लिए (जो अध्ययन के लिए तब बेंगलूरु में थे) बुलावा भेजा। परमगुरुजी ने सङ्कल्प किया, "मैं उसे (मेरे गुरुजी को) संन्यास दे दूँगा।" मेरे गुरुजी ने कोई प्रश्न नहीं पूछा। उन्हें इतना ही लगा — "मेरे गुरुजी ने मुझे शृङ्गेरी आने की आज्ञा दी है। इसलिए मुझे जाना चाहिए।" "मेरे माता-पिता के बारे में क्या होगा?", "मेरा भविष्य क्या होगा?" — इस प्रकार के कोई विचार उनके मन में नहीं उठे।

जब मेरे परमगुरुजी थे, तब कई शिष्य उनके प्रति बहुत समर्पित थे। उनके पाण्डित्य, तपस्या और करुणा को देखकर वे सोचते थे, "क्या ऐसा व्यक्ति भविष्य में पुनः कभी देखा जाएगा? क्या पीठ की महिमा बनी रहेगी?" कई लोगों को ऐसी शङ्काएँ होती थीं। मेरे गुरुजी को देखते ही, उनकी शङ्काएँ दूर हो गईं और उन्होंने अनुभव किया, "कैसे प्रकाण्ड विद्वान हैं! कैसी अद्भुत है उनकी सत्यनिष्ठता! उनका इन्द्रिय-निग्रह कितना उत्कृष्ट है! ये कैसे अन्तर्मुखी हैं!"

कालिदास कहते हैं —

प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्... (रघुवंश 5.37)

(जिस प्रकार एक दीप से प्रज्वलित दूसरा दीपक (पहले दीप से भिन्न नहीं होता है...))

यदि एक दीप से दूसरा दीपक जलाया जाए, तो उन दोनों में क्या अन्तर रहता है? जिसने दूसरा दीपक जलाया था, केवल वही यह जान सकेगा, "मैंने इसे जलाया था।" एक पर्यवेक्षक के लिए तो, दोनों केवल दीप प्रतीत होंगे, जिनमें कोई भेद नहीं होगा। यही मेरे परमगुरुजी और मेरे गुरुजी के बारे में भी था। मेरे गुरुजी की यात्राओं के समय, उनके अनुग्रह व्याख्यानों को सुनकर और उनकी देवतार्चना को देखकर, लोगों ने माधवीय-शङ्करविजय के ये शब्द स्मरण किए —

शम्भोर्मूर्तिश्चरति भुवने शङ्कराचार्य-रूपा। (माधवीय-शङ्करविजय 4.60)

(भगवान शिव जी की मूर्ति — यानि श्री दक्षिणामूर्ति — श्री शङ्कराचार्य जी के रूप में, इस संसार में विचरण करती है।)

तमांसि ध्वंसन्ते परिणमति भूयानुपशमः
सकृत्संवादेऽपि प्रथत इह चामुत्र च फलम्।
अथ प्रत्यासङ्गः कमपि महिमानं वितरति
प्रसन्नानां वाचः फलमपरिमेयं प्रसुवते॥

(महावीर-चरित 12)

(अज्ञान का नाश होता है और परम शान्ति फलित होती है। पवित्रात्माओं का एक संवाद भी, इहलोक और परलोक में फल देता है। निकट सङ्गति किसी न किसी रूप में महानता प्रदान करती है। पवित्रात्माओं की वाणी अपरिमित फल देती है।)

मैंने अपने गुरुजी के विषय में वह सब देखा है जो उपरोक्त श्लोक में वर्णित हैं। अनेक अवसरों पर भक्तों द्वारा अपनी समस्याओं के विषय में कुछ न कहने पर भी, मेरे गुरुजी सम्बन्धित समाधान का अनुग्रह किया करते थे।

एक दिन, भक्तों को आवश्यक समाधान देने के बाद, जब उन्होंने सबको जाने की अनुमति दे दी थी, तो मैंने उनसे पूछा, "महास्वामीजी! जब लोग समाधान माँगने के लिए आपके पास आते हैं, तो आप उनके अनुरोध प्रस्तुत होने से पहले ही समाधान प्रदान कर देते हैं! यह कैसे?" उन्होंने उत्तर दिया, "इसमें कुछ भी नहीं है। वे ईश्वर ही हैं जो मुझे प्रेरित करते हैं और मैं उनकी इच्छा के अनुसार प्रतिक्रिया देता हूँ। ऐसी स्थिति में, उनके मन में जो कुछ भी है, वह स्वतः ही मेरे मुँह में आ जाता है। मुझे कोई प्रयास नहीं करना पड़ता है।" वे एक ऐसे महात्मा थे जिन्होंने ऐसी पूर्णता प्राप्त की थी।

वे पीड़ित लोगों के कष्टों को दूर करते थे, जिज्ञासुओं के लिए ज्ञानोपदेश प्रदान करते थे, धनार्थियों के लिए सम्पत्ति का अनुग्रह करते थे, और तत्त्व को जानने वाले व्यक्ति को तो वे स्वयं अपना ही माना करते थे। उनके अनुसार, तत्त्वज्ञानी और अपने में कोई भेद नहीं था। उनका ज्ञान, आत्मसंयम इत्यादि गुण, आत्मनिष्ठा और प्राणियों के प्रति अनुकम्पा — ये सब आदर्श थे। इस प्रकार, उन्होंने विश्व-कल्याण के लिए अपना जीवन जिया।

सदात्मध्यान-निरतं विषयेभ्यः पराङ्मुखम्।
नौमि शास्त्रेषु निष्णातं चन्द्रशेखरभारतीम्॥

(सदा आत्मध्यान में निरत, इन्द्रिय-विषयों से विमुख तथा शास्त्रों में पारङ्गत श्री चन्द्रशेखर भारती जी की स्तुति करता हूँ।)

श्रीमद्विष्णुपदालम्बं वेदान्तामृतवर्षिणम्।
लोकसन्तापशमनं वन्देऽभ्रसदृशं गुरुम्॥

(मैं (आकाश तुल्य) परब्रह्म में रहने वाले मेघ तुल्य गुरु को नमन करता हूँ, जो वेदान्त का अमृत बरसाते हैं और लोगों के कष्टों को समाप्त करते हैं।)

गुरुवर-चरणौ भक्त्या नित्यं प्रणमामि भक्त-करुणलू।
यद्भानु-लेश-पातो हृदय-ध्वान्तानि सन्ततं हन्ति॥

(मैं प्रतिदिन भक्ति के साथ उन परम श्रेष्ठ गुरुजी के चरणों में प्रणाम करता हूँ, जो भक्तों के लिए दयालु हैं और जिनकी प्रभा के साथ लेश मात्र अनावरण, सर्वदा मन के सम्पूर्ण अन्धकार (अज्ञान) को नष्ट कर देता है।)

3. बाल्यावस्था से संन्यास तक — अध्यात्मिक नींव

श्री श्रीनिवास शास्त्री — जैसा कि गुरुजी पूर्वाश्रम में जाने जाते थे — एक परोपकारी और विचारशील बालक थे। जबकी उनकी उम्र के अन्य बच्चे निश्चिन्त खेल में लगे रहते थे, उन्होंने अपनी माँ की सहायता की। उन्होंने बरतन माँजना, झाड़ू लगाना इत्यादि कई ऐसे घरेलू काम किए। वे बहुधा अपने छोटे भाई की देखभाल भी करते थे। जब उनसे इसके बारे में पूछा गया, तो उन्होंने कहा, "मेरी माँ रसोई में व्यस्त है और मेरी बड़ी बहन उनकी सहायता कर रही है। इस बच्चे की देखभाल कौन करेगा? अगर मैं ऐसा नहीं करता, तो यह काम मेरी माँ के तनाव को और बढ़ा देगा।" वे एक मेधावी छात्र थे, जिन्होंने बिना किसी हिचकिचाहट के उन छात्रों के अध्ययन से सम्बन्धित सन्देहों को दूर करने के लिए समय निकाला, जिन्होंने उनकी सहायता माँगी थी।

एक बार, उनके मित्र ने परीक्षा में अच्छा प्रदर्शन नहीं किया। लड़के के पिता ने अपने बेटे को दण्ड देने का सङ्कल्प लिया। इसलिए, उन्होंने अपने बेटे को झुकने का आदेश दिया और लड़के की पीठ पर एक बड़ा पत्थर रख दिया। वह बालक दण्ड का पात्र तो था, परन्तु इस सीमा तक नहीं। भार सहन करने में असमर्थ, वह रोने लगा। श्री श्रीनिवास शास्त्री ने दयनीय चीख सुनी और उस स्थल पर पहुँचे। पिता को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा, "आप मुझसे बड़े हैं और समझदार भी। आपका बेटा पीड़ा से छटपटाता रहा है। कृपा करके कुछ समय इसे आराम करने दें। इसके बदले, आप मेरी पीठ पर यह पत्थर रख सकते हैं और मैं उसके लिए इसे उठाऊँगा।" पिता श्री श्रीनिवास शास्त्री की हार्दिक चिन्ता से प्रभावित हुए और अपने बेटे को लगाए गए बोझ से मुक्त कर दिए। श्री श्रीनिवास शास्त्री सदैव दूसरों के हेतु, कष्ट सहने के लिए सज्जित रहते थे।

एक दिन, उन्होंने और उनके मित्रों ने एक घर में परोसे गए बहुत तीखे व्यञ्जन का अनजाने में सेवन कर लिया। सभी मित्र पानी और गुड़ के लिए चिल्लाए। श्री श्रीनिवास शास्त्री अविचलित रहे। उन्होंने अपने मित्रों को परामर्श दिया कि गुड़ के लिए ऐसी लालसा अनावश्यक थी। उनके मुँह

मानो जल रहे थे, और यहाँ वे आग में घी डाल रहे थे। "हाँ, बोलते हो आप ऐसा!" उन्होंने चुनौती दी, "क्या आप विरोध की बड़बड़ाहट के बिना मुट्ठी भर मिर्च खा सकते हो?" उत्तर था, "हाँ।" तुरन्त, एक मुट्ठी भर मिर्च लाई गई। एक-एक कर मिर्च उनके मुँह में चली गई। लड़के देखते रहे, निराश से अधिक आश्चर्यचकित होकर। उनके मुखमण्डल पर बिना किसी असुविधा के, सारी मिर्च खा ली गई। फिर उन्होंने कहा, "इस प्रकार मसालों का सेवन करना आवश्यक नहीं है। तुम लोगों ने इसकी माँग की है और इसलिए मैंने तुम लोगों को यह समझाने के लिए खाया कि जो भोजन मिलता है, उससे सन्तुष्ट रहना सम्भव है।"

श्री श्रीनिवास शास्त्री सदैव सहनशील थे। एक दिन, उनके मित्रों ने उनकी सहनशीलता की सीमा को परखने का निश्चय किया। लाठी लाकर वे उससे उन्हें मारपीट करने लगे। उन्होंने बिना किसी बड़बड़ाहट के, उनके अकारण आक्रमण को झेला। जब लड़के इस बात से क्षुब्ध होकर रुके कि वे उनकी परीक्षा लेने में कितनी दूर चले गए थे, तो उन्होंने दयापूर्ण वचनों से उनका हृदय जीत लिया। उन्होंने उन्हें निम्नलिखित कहानी भी सुनाई।

एक बौद्ध भिक्षु को एक सम्राट ने अन्यायपूर्ण प्रकार से प्रताड़ित किया। राजा अन्त में नरम हो गया और लज्जित होते हुए भिक्षु से क्षमा की भीख माँगी। प्रायश्चित्त के रूप में, उन्होंने भिक्षु के बाद की आवश्यकताओं को पूरा किया। इस प्रकार, केवल सहनशीलता से भिक्षु सम्राट को विनम्र करने में सक्षम था। श्री श्रीनिवास शास्त्री के मित्रों ने कहानी सुनकर लज्जा से सिर झुका लिया।

जबकी वे व्यक्तिगत रूप से सहनशील थे, उनमें दूसरे को दी जा रही पीड़ा को समाप्त करने के लिए हस्तक्षेप करने की प्रकृति और साहस थे। उन्होंने एक बार एक लड़के को उड़ते हुए कीड़ों को पकड़कर, उनके पङ्खों को फाड़कर उन असहाय प्राणियों को, एक कुत्ते को फेंकते हुए देखा। उस लड़के के पास जाकर, उन्होंने झट से उसके हाथ को पकड़ लिया और उन्हें मरोड़ दिया। लड़का चिल्लाया। श्री श्रीनिवास शास्त्री ने अपनी शिकंजा-

जैसी पकड़ को ढीली करते हुए कहा, "कीड़ों को भी ऐसा ही लगता है। जैसे तुम्हारे हाथ होते हैं, वैसे ही कीड़ों के भी पङ्ख होते हैं। आगे चलकर उन्हें यातना देने से दूर रहना।" उन्होंने एक बार एक मित्र के साथ निम्नलिखित बातचीत की।

श्री श्रीनिवास शास्त्री - पशुओं का आखेट करना अनुचित है।

मित्र - माँसाहारी पशु दुर्बल जीवों का आखेट करते हैं। ऐसी स्थिति में, वे मारे जाने के योग्य हैं।

श्री श्रीनिवास शास्त्री - भगवान ने कुछ प्राणियों को माँसाहारियों के लिए आहार के रूप में बनाया है। परन्तु, इसके कारण मनुष्य को प्रकृति के नियमों में हस्तक्षेप करने और पशुवध करने का अधिकार नहीं मिलता।

वे और उनके मित्र खेलने के बाद इकट्ठे होते थे और कहानियाँ सुनाते थे। वे पुराणों, महाभारत और नीति-चिन्तामणि से कहानियाँ सुनाते थे। हरिश्चन्द्र की कहानी सुनाते समय, उन्होंने सत्यता के महत्त्व और सत्यवादी होने के लाभों पर ज़ोर दिया। जड़भरत की कहानी में चित्रित लगाव के भयानक परिणामों को और प्रह्लाद की भावोत्तेजक भक्ति उनके द्वारा अपनी कुछ प्रस्तुतियों में समुचित रूप से अवगत कराए गए थे।

एक सरोवर था जिसमें उनके मित्र सूर्यास्त के बाद जाने से डरते थे, क्योंकि ऐसा माना जाता था कि वह भूतों से ग्रसित था। श्री श्रीनिवास शास्त्री को ऐसा कोई भय नहीं था। अपने मित्रों की चुनौती के उत्तर में, वे एक अन्धेरी अमावस्या की सन्ध्या को साहसपूर्वक उसके यहाँ भागे, अपने हाथ और पैर धोए, अपना मुँह धोए और वापस लौट आए। बाद में उनके निडरता के बारे में पूछे जाने पर, उन्होंने कहा, "मैं भगवान के नाम का जाप कर रहा था। कोई दुष्ट आत्मा मुझ पर कैसे चढ़ सकती थी?"

एक सायंकाल, यह पूछे जाने पर कि वे बड़े होकर क्या करना चाहेंगे, उन्होंने कहा कि वह ईश्वर को प्राप्त करने का प्रयास करेंगे। जब एक मित्र ने उनसे पूछा कि उन्होंने ऐसा क्यों कहा, तो उन्होंने कहा, "क्योंकि वही अच्छा है।"

उस मित्र ने तब उनके इस विश्वास को कि परमेश्वर अस्तित्व में है, इस आधार पर चुनौती दी कि न तो उसने परमेश्वर को देखा था और न ही उन्होंने जिन्हें वह जानता है।

श्री श्रीनिवास शास्त्री - क्या तुम सिद्ध कर सकते हो कि भगवान नहीं है? क्या तुम कहोगे कि चूँकि तुमने किसी वस्तु को नहीं देखा है, तो वह विद्यमान नहीं है? उदाहरण के लिए, क्या तुमने मुंबई देखी है? नहीं। क्या इससे यह फलित होता है कि मुंबई का अस्तित्व नहीं है?

मित्र - मैंने मुंबई नहीं देखी है। परन्तु, मैंने बहुतों को देखा है जिन्होंने मुंबई देखा है। इसलिए मेरा मानना है कि मुंबई का अस्तित्व है।

श्री श्रीनिवास शास्त्री - बहुत अच्छा। इसी प्रकार, हमारे प्राचीन ऋषि, जिन्होंने भगवान को देखा है, उन्होंने इस तथ्य के स्पष्ट सङ्केत दिए हैं। अगर हम उनकी बातों को बिना रोक के स्वीकार कर लें, तो क्या दोष है? उनके अनुभव को नहीं ठुकराया जा सकता है और इसलिए हमें ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना पड़ेगा।

वे भगवान गणपति की एक छोटी स्फटिक मूर्ति की पूजा करते थे। एक दिन, उनकी माँ के पास भगवान को नैवेद्य के रूप में अर्पित करने के लिए कुछ खाद्य पदार्थ नहीं था और इस बारे में उन्हें झंझट लगी। अपनी माँ की दुर्दशा को भाँपते हुए, उन्होंने तुरन्त उन्हें बताया कि उन्हें चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है और वे उचित प्रबन्ध कर लेंगे। प्रभु ने कहा है —

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(भगवद्गीता 9.26)

(जो कोइ भी मुझे भक्तिपूर्वक एक पत्ता, पुष्प, फल या जल अर्पित करता है, वह शुद्ध हृदय वाले व्यक्ति द्वारा समर्पित किया गया भेंट मैं स्वीकार करता हूँ।)

श्री श्रीनिवास शास्त्री ने प्रेम से भरे हृदय से एक चम्मच जल अर्पित करके, भगवान गणपति को तृप्त किया।

समय बीतने के साथ, वे नियमित रूप से अपने मित्रों से संसार त्यागने की अपनी इच्छा व्यक्त करने लगे। सबसे पहले, उनके मित्रों ने उनकी लालसा को हास्यास्पद पाया, परन्तु शीघ्र ही उन्हें पता चला कि उनका सङ्कल्प दृढ़ है। एक लड़के ने उनसे पूछा, "संन्यासी बनने का क्या लाभ है? एक महाराजा बनने से कोई बहुत ऊँचे पद को प्राप्त करता है।" "ऐसा मत सोचो," उन्होंने उत्तर दिया, "राजा बनने में क्या दीर्घकालिक लाभ है? एक सम्राट केवल तभी आनन्द ले सकता है जब वह सत्ता के शीर्ष पर हो। उस स्थिति को आज नहीं तो कल समाप्त होनी पड़ेगी। हालाँकि, अगर मैं संन्यासी बन जाता हूँ, तो मैं अनवरत ध्यान कर सकता हूँ और बिना किसी चिन्ता के रह सकता हूँ। भगवान के दर्शन पाने का एक अद्भुत अवसर होगा और मैं सदैव उनके द्वारा संरक्षित रहूँगा।" वे तब मात्र तेरह वर्ष के थे।

[*इसके तुरन्त बाद, शृङ्गेरी में 1930 मई 4 को शारदाम्बा के मन्दिर में गुरुजी का उपनयन किया गया। परमगुरुजी (परमपूज्य जगद्गुरु श्री चन्द्रशेखर भारती महास्वामी जी) के साक्षात् अनुमोदन और आशीर्वाद से, वे एक छात्र के रूप में शृङ्गेरी में रहे; उनके माता-पिता बेंगलूरु लौट आए। शृङ्गेरी में श्री श्रीनिवास शास्त्री को नरसिंहवन में ही ठहरने की व्यवस्था की गई थी; न कि तुङ्गा नदी के उत्तरी किनारे पर मठ की पाठशाला में। उनकी एक क्रमबद्ध समयसारिणी थी और वे निरन्तर अपनी पढ़ाई में लगे रहते थे। कुछ छात्रों को उनके साथ कक्षाओं में भाग लेने के लिए चुना गया था। निम्नलिखित घटना उस वर्ष से सम्बन्धित है जब वे वहाँ एक ब्रह्मचारी के रूप में रहे थे।*]

परमगुरुजी कभी-कभी लड़कों से साधारण प्रश्न पूछते जैसे, "क्या आज का भोजन सन्तोषजनक था? खाने में कौन से व्यञ्जन थे? क्या खाना स्वादिष्ट था? क्या यह बहुत नमकीन या बहुत तीखा था?" जबकि अन्य छात्रों ने तुरन्त अपने अपने अभिप्राय व्यक्त किए, श्री श्रीनिवास शास्त्री सदैव चुप रहे। यह भाँपने वाले परमगुरुजी ने एक दिन उनसे पूछा, "तुम कोई टिप्पणी नहीं करते हो। ऐसा क्यों?" श्री श्रीनिवास शास्त्री ने कहा, "हमें जो कुछ भी मिलता है, वह गुरुजी का प्रसाद है। इसलिए, यह सदैव स्वादिष्ट

होता है।" यह सुनकर परमगुरुजी प्रसन्न हुए; उसका आशय यह पता लगाना था कि लड़के कहाँ तक अपने जीभ के दास थे।

परमगुरुजी ने पाया कि श्री श्रीनिवास शास्त्री दूसरों की तुलना में बहुत श्रेष्ठतर छात्र थे। वे छात्रों को अपने साथ सन्ध्या की अपनी सैर पर नरसिंहवन में एक पहाड़ी के ऊपर स्थित कालभैरव मन्दिर में ले जाते थे। रास्ते में, वे उनसे "अन्तादि" श्लोकों को कहलवाते थे; उसमें, एक पद्य उस वर्ण से प्रारम्भ होता है जिसके साथ पिछला श्लोक समाप्त होता है। श्री श्रीनिवास शास्त्री ने सराहनीय प्रदर्शन किया। इसके अतिरिक्त, कई अवसरों पर, छंदों की व्याख्या करने और वैकल्पिक व्याख्याओं को शीघ्र सोचकर उन्हें प्रस्तुत करने की उनकी क्षमता प्रकाश में आई। एक सायंकाल, परमगुरुजी ने लड़कों से संस्कृत की महानता के बारे में बात की और फिर निम्नलिखित श्लोक का उच्चारण किया —

दारा इमे मे तनया इमे मे गृहा इमे मे पशवश्च मे मे।
इत्थं नरो मेष-समान-धर्मा मेमेकरः कालवृकेण नीतः॥

*(ये पत्नियाँ (**मे**) मेरी हैं, ये बच्चे (**मे**) मेरे हैं, ये घर (**मे**) मेरे हैं और ये पशु (**मे**) मेरे हैं। वह मनुष्य जो इस प्रकार "**मे मे**" कहता है और (में-में कार मिमियाने वाले) भेड़ के समान स्वभाव रखता है, काल रूप भेड़िये द्वारा ले लिया जाता है।)*

अगली सन्ध्या, परमगुरुजी ने छात्रों को इस श्लोक का पाठ करने का निर्देश दिया और फिर उनसे इसका कारण पूछा कि उन्होंने पिछले दिन इसका पाठ क्यों किया था और उनसे इसका पाठ करवाया था। श्री श्रीनिवास शास्त्री ने कहा, "यह श्लोक संस्कृत की महानता को दर्शाता है। शब्दांश '**मे**' का अर्थ है 'मेरा'। इस प्रकार, पद्य मनुष्य में अहङ्कार के खेल को चित्रित करता है। यह शब्दांश भेड़ द्वारा बनाई गई ध्वनि का भी प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार, एक ही ध्वनि एक से अधिक अर्थ देती है।" इस उत्तर ने परमगुरुजी को सन्तुष्ट कर दिया।

एक और सायंकाल को, परमगुरुजी ने निम्नलिखित श्लोक सुनाया —

सूते सूकर-युवतिः सुतशतमत्यन्त-दुर्भगं झटिति।
करिणी चिराय सूते सकल-महीपाल-लालितं कलभम्॥

(एक सुअरी एक सौ अभागे सूअरों को शीघ्र ही जन्म दे देती है। लम्बे गर्भ के बाद, एक हथिनी एक बछड़ा पैदा करती है, जो राजाओं द्वारा प्यार किया जाता है।)

फिर उन्होंने छात्रों से पूछा कि उनके सुनाने के कारण के बारे में उन्हें क्या लगता है। जबकि दूसरे उलझे हुए थे, श्री श्रीनिवास शास्त्री ने कहा, "एक बड़ा विद्यालय सौ से अधिक छात्रों को शिक्षण प्रदान कर सकता है। हालाँकि, अगर वे शिक्षण के सार को समझने में असमर्थ हैं, तो वह शिक्षण एक व्यर्थ प्रयास होगा। एक छोटे विद्यालय में एक ही छात्र हो सकता है। फिर भी, यदि वह बालक बुद्धि से सम्पन्न हो और शिक्षा का अधिकतम लाभ उठाता हो, तो वह उस संस्था में नाम और प्रसिद्धि लाएगा।"

यह सुनकर परमगुरुजी स्पष्ट रूप से प्रसन्न हुए। तथापि, उन्होंने वैद्यनाथ शास्त्री की ओर देखा, जिन्होंने छात्रों को संस्कृत पढ़ाया, और उनसे अपना अभिप्राय पूछा। शास्त्री ने कहा, "केवल एक अकेली माँ ही ऐसे बच्चे को जन्म देने के लिए भाग्यशाली होती है जो राजाओं द्वारा पूजे जाने वाले जगद्गुरु बन जाते हैं। अन्य माताओं को यह सौभाग्य नहीं मिलता।" उनके इस व्याख्या को देने का कारण यह था कि परमगुरुजी ने, श्री श्रीनिवास शास्त्री की माँ उनके दर्शन पाकर जाने के कुछ ही मिनट बाद, इस श्लोक को सुनाया था। बाद में, श्री श्रीनिवास शास्त्री के एक सहपाठी ने उनसे पूछा, "क्या यह श्लोक आपकी माँ पर लागू नहीं था?" अपनी विशिष्ट विनम्रता के साथ, उन्होंने कहा, "मैं ऐसे अर्थ को प्रस्तुत करने के बारे में सोच भी नहीं सकता था। इसलिए, मैंने एक और अर्थ के बारे में सोचा।"

गायत्री-मन्त्र के बारे में — जिसका उपदेश उपनयन संस्कार के समय दिया जाता है — सूत-संहिता में इस प्रकार कहा गया है —

बहुनोक्तेन किं विप्रा जपेनास्याश्च होमतः ।
अभीष्टं सर्वमाप्नोति नात्र सन्देह-कारणम् ॥ (सूत-संहिता 4.6.59)

(हे ब्राह्मणों, बहुत कुछ कहने की क्या आवश्यकता है? गायत्री-मन्त्र के जप और होम के अनुष्ठान से, व्यक्ति को वह सब मिलता है जो वह चाहता है। यहाँ सन्देह के लिए कोई कारण नहीं है।)

मनु-स्मृति में कहा गया है —

सहस्र-कृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः ।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥ (मनु-स्मृति 2.79)

*(जिसका उपनयन संस्कार हुआ है, वह किसी ग्राम के बाहर (जैसे किसी नदी के किनारे या किसी वन में) एक माह तक एक सहस्र बार प्रणव (**ॐ**) और व्याहृतियों (**भूः भुवः सुवः**) के साथ गायत्री मन्त्र का जप करने से, अपने बड़े से बड़े पाप से भी इस प्रकार मुक्त हो जाता है जिस प्रकार एक साँप अपनी केंचुली से।)*

श्री श्रीनिवास शास्त्री बड़ी सावधानी से तथा ध्यान से अपने नित्यकर्म का (नियमित आचरण किए जाने वाले शास्त्र-विहित धार्मिक कर्मों का) अनुष्ठान करते थे। 1982 में गुरुजी ने मुझसे कहा, "मुझे गायत्री-मन्त्र के बारे में बड़ी रूचि थी और अपने उपनयन के दिन से ही, जब भी मुझे अवसर मिलता, मानसिक रूप से इसका जप करना प्रारम्भ कर दिया। लगभग एक महीने की अवधि में, मैं अपनी नियमित गतिविधियों में लगे रहते हुए भी, ऐसा करने में सक्षम था। मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि मैंने शीघ्र ही अपने स्वप्नों के समय भी, गायत्री मन्त्र को मानसिक रूप से दोहराया। मैंने किसी को अपने इस अभ्यास के बारे में नहीं बताया।"

ब्रह्म साक्षात्कार और मुक्ति पाने के लिए, सांसारिक और स्वर्गीय सुखों से विरक्ति महत्त्वपूर्ण हैं। इसके बारे में, महानारायण-उपनिषद् इस प्रकार सिखाता है —

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ।
(महानारायण-उपनिषद् 1.10.21)

(कर्म (अनुष्ठान) से, सन्तान से या धन से, उन्होंने अमरता प्राप्ति नहीं की। त्याग से ही कुछ लोगों ने अमरत्व प्राप्त किया है।)

प्रभु ने कहा है —

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःख-योनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीर-विमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ (भगवद्गीता 5.22,23)

(चूँकि इन्द्रियों तथा विषयों के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाले भोग दुःख के स्रोत हैं और आदि एवं अन्त वाले हैं, हे कौन्तेय! बुद्धिमान व्यक्ति उनमें नहीं रमता। जो इस शरीर को त्यागने से पहले ही, काम और क्रोध से उत्पन्न होने वाले आवेग को सहन करने में समर्थ हो जाता है, वह मनुष्य योगी है और वह सुखी है।)

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ (भगवद्गीता 6.35)

(हे पराक्रमी भुजाओं वाले! निःसन्देह मन चञ्चल है और उसे नियन्त्रित करना कठिन है। परन्तु, हे कुन्तीपुत्र! अभ्यास और वैराग्य से इसे वश में लाया जा सकता है।)

परमगुरुजी ने श्री श्रीनिवास शास्त्री को वैराग्य पर बल दिया। एक सन्ध्या, परमगुरुजी छात्रों और वैद्यनाथ शास्त्री को अपने साथ लेकर, कालभैरव मन्दिर की ओर बढ़ रहे थे। शास्त्री ने परमगुरुजी को बताया कि जब वे अन्तर्मुख-अवस्था में थे, तब उनके द्वारा बोले गए कुछ श्लोकों को उन्होंने लिखकर रखा था। परमगुरुजी ने उन्हें उनमें से एक का पाठ करने का निर्देश दिया। इसके उत्तर में शास्त्री ने कहा —

नहि नहि मनुतां स्वत्वं मर्त्यः स्वीये शरीरेऽपि।
पितृभूमि-शृगाल-गणाः स्वत्वं परिचिन्तयन्ति तत्काले॥

(मर्त्य व्यक्ति को शरीर के सम्बन्ध में भी, 'मेरा' भाव नहीं होना चाहिए। श्मशानघाट के गीदड़ों का झुण्ड उसे अपना मानते हैं जब शरीर वहाँ होता है।)

इसके बाद, परमगुरुजी ने शरीर के प्रति आसक्ति की व्यर्थता की व्याख्या की। उन्होंने अन्त में यह श्लोक कहा —

सिंहासनोपविष्टं दृष्ट्वा यं मुदमवाप लोकोऽयम्।
तं कालाकृष्ट-तनुं विलोक्य नेत्रे निमीलयति॥

(प्रबोध-सुधाकर 1.26)

(सिंहासन पर विराजमान जिसे देखकर लोग आनन्द प्राप्त किए थे, उसे मृत्यु के द्वारा छीन लिए जाने पर, आँखें मूँद लेते हैं।)

अगले दिन, परमगुरुजी ने वैद्यनाथ शास्त्री को श्री श्रीनिवास शास्त्री के साथ उनके पास आने का निर्देश दिया। जब उनके निर्देश का पालन किया गया, तो उन्होंने कहा, "आज, हम एक गृहस्थ और एक संन्यासी होने के तुलनात्मक गुणों पर चर्चा करेंगे। आप पहले पारिवारिक जीवन के लाभ बताईए।" परमगुरुजी की आज्ञा का पालन करते हुए, श्री श्रीनिवास शास्त्री और वैद्यनाथ शास्त्री ने गृहस्थ होने के लाभों की बात कही। फिर परमगुरुजी ने गृहस्थ-आश्रम की कमियों का विवरण दिया। उन्होंने कई उदाहरण दिए और कहा —

को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति।
युवैव धर्मशीलः स्यादनित्यं खलु जीवितम्॥

(महाभारत 12.175.16)

बाल्ये नष्ट-विवेको विषयसुखास्वाद-लम्पटस्तरुणः।
परतो जातविवेको वृद्धोऽशक्तः किमाप्नुयात्सिद्धिम्॥

(वस्तुतः कौन जानता है कि उसका अन्तिम दिन कौन सा होगा? युवावस्था से ही धर्म का अभ्यास करना चाहिए; जीवन निश्चित रूप से क्षणभङ्गुर है। बचपन में, व्यक्ति विवेकपूर्ण अन्तर्दृष्टि रहित होता है। युवावस्था में, कामुक सुखों के अनुभव में तल्लीन होता है। पश्चात्, विवेक के भोर के बाद, एक दुर्बल बूढ़ा व्यक्ति क्या सफलता प्राप्त कर सकता है?)

अन्त में, परमगुरुजी ने पूछा, "अब मुझे बताओ। गृहस्थ बनना श्रेष्ठ है या संन्यासी?" बिना किसी झिझक के, श्री श्रीनिवास शास्त्री ने कहा कि संन्यास लेना वास्तव में श्रेष्ठ है।

एक दिन, श्री श्रीनिवास शास्त्री ने वैद्यनाथ शास्त्री से कुछ प्रश्न पूछे। वे इस प्रकार थे —

(1) मैंने सुना है कि परिवार में सबसे बड़े बेटे को अनिवार्य रूप से विवाह करना होता है। क्या वास्तव में ऐसा है?

(2) हमारे गुरुजी ने बड़े विद्वान् होने के बाद संन्यास ग्रहण किया। क्या संन्यासी बनकर संसार को त्यागने से पहले, शास्त्रों का गहन ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है?

(3) मैंने सुना है कि जब कोई पैदा होता है, तुरन्त ऋणों की शृङ्खला उस व्यक्ति पर हावी हो जाती है। इनमें से कुछ अपने माता-पिता की सेवा करके चुकाए जाते हैं, कुछ देवताओं की पूजा करके और कुछ सन्तान पैदा करके। क्या यह वास्तविक स्थिति है?

(4) क्या गुरु के आश्रम में ब्रह्मचारी के रूप में लम्बे समय तक रहने के बाद ही, किसी को दूसरे आश्रम में प्रवेश करने की अनुमति मिलेगी?

(5) क्या मेरे जैसा छोटा लड़का चाहे तो संन्यास ले सकता है? सम्भव है कि माता-पिता अनुमति नहीं देंगे। क्या उनकी स्वीकृति के बिना भी, संन्यास लिया जा सकता है?

वैद्यनाथ शास्त्री उन्हें सन्तोषजनक उत्तर देने की स्थिति में नहीं थे। पश्चात्, परमगुरुजी उन दोनों के साथ अपनी सामान्य सन्ध्या की सैर पर कालभैरव मन्दिर चले गए। रास्ते में, उन्होंने प्रबोध-सुधाकर के निम्नलिखित श्लोक का पाठ किया —

लोको नापुत्रस्यास्तीति श्रुत्यास्य कः प्रभाषितो लोकः।
मुक्तिः संसरणं वा तदन्य-लोकोऽथ वा नाद्यः॥

(प्रबोध-सुधाकर 2.35)

(वेद कहते हैं कि 'लोक' एक पुत्र के विहीन व्यक्ति के लिए नहीं है। वह लोक क्या है? क्या यह मुक्ति है, या संसरण, अथवा कोई दूसरा लोक? वह पहला नहीं हो सकता।)

तत्पश्चात्, परमगुरुजी ने वैद्यनाथ शास्त्री से प्रबोध-सुधाकर के अगले दो श्लोकों का पाठ करने और अर्थ देने को कहा। वे श्लोक हैं —

सर्वेऽपि पुत्रभाजस्तन्मुक्तौ नैव संस्मृतिर्भवति।
श्रवणादयोऽप्युपाया मृषा भवेयुस्तृतीयेऽपि॥
तत्प्राप्त्युपाय-सत्त्वाद्वितीयपक्षेऽप्यपुत्रस्य।
पुत्रेष्ट्यादिक-याग-प्रवृत्तये वेद-वादोऽयम्॥

(प्रबोध-सुधाकर 2.36,37)

शास्त्री जी ने इनका समग्र अर्थ निम्नलिखित पंक्तियों में बताया —

ऐसा नहीं कहा जा सकता कि पुत्रप्राप्ति मोक्ष प्रदान करती है। ऐसा इसलिए है क्योंकि सभी लोग जिनके पुत्र हैं, उन्होंने उच्च अवस्था को प्राप्त नहीं किया है। इसके अतिरिक्त, यदि केवल सन्तानप्राप्ति से मुक्ति मिलती, तो संसार का चक्र स्वयं ही समाप्त हो जाता क्योंकि कई लोगों के बच्चे होते हैं। पुत्र इहलोक और परलोक में सुख का कारण अवश्य नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि उच्च लोक को प्राप्त करने के लिए, वेद ज्योतिष्टोम इत्यादि विशेष कर्मों के अनुष्ठान को अध्यादेश करता है। यह स्पष्ट रूप से सन्तानोत्पत्ति को उच्च लोक के साधन के रूप में घोषित नहीं करता है। वेद स्पष्ट रूप से घोषणा करता है कि धन, सन्तान आदि मुक्ति प्रदान नहीं कर सकते। केवल — तत्त्व का श्रवण (सुनना), मनन (तात्पर्य पर तर्क सहित चिन्तन करना) और निदिध्यासन (उसी में मन को एकाग्र करना) — इन साधनाओं द्वारा आत्म-साक्षात्कार से ही अमरता (मुक्ति) प्राप्त होती है।

पुत्र की आवश्यकता के बारे में, श्रुति के कथनों के तात्पर्य को पुत्रेष्टि इत्यादि यज्ञविधियों के अनुष्ठान की प्रशंसा मात्र के रूप से समझा जाना चाहिए। पुत्र प्राप्ति के लिए पुत्रेष्टि-यज्ञ एक साधन है। जो सन्तान की इच्छा रखते हैं, उन

लोगों को इसे करने में प्रेरित करने के लिए, इसके महत्त्व पर बल दिया गया है। वेद, जो एक माँ के सदृश है, निश्चित रूप से किसी इच्छा रहित व्यक्ति को इस प्रकार के यज्ञ करने के लिए विवश करने का अभिप्राय नहीं रखता।

इसके बाद, परमगुरुजी ने विस्तृत विवरण देना प्रारम्भ किया। उन्होंने कहा कि विवाह केवल उसी व्यक्ति के लिए अनिवार्य है जो कामुक सुखों का आनन्द लेना चाहता है। जिस व्यक्ति में प्रबल वैराग्य है, उसके लिए गृहस्थ जीवन व्यतीत करना अनिवार्य नहीं है। इसके अतिरिक्त, कोई ऐसी वैदिक विधि नहीं है कि एक विरक्त व्यक्ति को विवाह करना ही चाहिए। वेद इच्छाओं को दूर करने के उपायों को सूचित करते हैं और कभी भी लालसा या प्रजनन की सन्तुष्टि की प्रशंसा नहीं करते हैं। जिस प्रकार प्यारे माता-पिता केवल अपने बच्चे को आग में गिरने से बचाने का प्रयास करते हैं और उसे उसमें गिरने के लिए प्रेरित नहीं करते हैं, उसी प्रकार वेद भी लोगों को बुरे मार्गों से दूर रहने और पवित्र मार्ग पर आगे बढ़ने का साधन बताते हैं। वास्तव में, जिस क्षण कोई अत्यन्त वैराग्यपूर्ण हो जाता है, वह उसी क्षण सब कुछ त्याग कर सकता है और एक संन्यासी बन सकता है। इस प्रकार, एक व्यक्ति, चाहे वह ब्रह्मचारी हो या गृहस्थ या वानप्रस्थी, एक संन्यासी बन सकता है।

परमगुरुजी ने सन्तानोत्पत्ति की निरर्थकता को समझाया। उन्होंने विभिन्न उद्धरणों द्वारा अपनी व्याख्याओं को पुष्ट किया और दृढ़ता से अपनी बातों से अवगत कराया। उदाहरण के लिए, उन्होंने कहा कि कदाचित् ही किसी को ऐसा पुत्र मिलता हो जो सभी अच्छे गुणों से सम्पन्न हो। ऐसे पुत्र के उत्पन्न होने पर भी, यदि बालक अल्पायु या रोगग्रस्त हो, या बाद में उसके कोई सन्तान न हो, तो माता-पिता को मानसिक कष्ट सहने पड़ते हैं। यदि कोई छोटा बच्चा रोगों या ग्रहों के प्रभाव से पीड़ित होता है, तो माता-पिता के दुःख का कोई अन्त नहीं होता है। अगर बच्चा थोड़ा बड़ा हो जाता है परन्तु मूर्ख होता है, तो माता-पिता भी प्रसन्न नहीं होंगे। इसके अतिरिक्त, यदि उपनयन के बाद, लड़का विद्वान नहीं बनता है, या यदि विद्वान भी बन जाता है पर विवाह करने से मना कर देता है, तो माता-पिता को भी पीड़ा होती है।

परमगुरुजी ने समझाया कि (मृतक माता-पिता के लिए अनुष्ठेय अपरकर्म) श्राद्ध एक अनिवार्य कर्तव्य है, जो कर्ता को शुद्ध करता है। उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि पितर विशेष रूप से श्राद्ध कर्म के समय समर्पित किए जाने वाले पिण्ड पर ही स्वयं को बनाए नहीं रखते हैं। उन्होंने आगे कहा कि महाभारत इत्यादि ग्रन्थों में सन्तान की आवश्यकता के बारे में जो कहानियाँ मिलती हैं, वे उन्नत आध्यात्मिक आकांक्षी के लिए नहीं हैं, जिनके पास दृढ़ वैराग्य है। श्री श्रीनिवास शास्त्री द्वारा इससे पहले उठाए गए सभी प्रश्नों का परमगुरुजी द्वारा स्पष्ट रूप से उत्तर दिया गया था; न तो उन्होंने, और न ही वैद्यनाथ शास्त्री ने, परमगुरुजी से उनका उल्लेख किया था।

कभी-कभी, प्रकृति वैराग्य के बारे में परमगुरुजी के निर्देश देने में सहायता करती प्रतीत होती थी। उदाहरण के लिए, एक अवसर पर, जब परमगुरुजी अपने छात्रों के साथ कालभैरव मन्दिर जा रहे थे, एक शवयात्रा देखी गई। वह दृश्य देखकर, परमगुरुजी ने स्वतः ही मृतक की पहचान एक धनी सज्जन के रूप में की और उनका नाम बता दिया। उन्होंने आगे कहा कि वह व्यक्ति युवा था और आराम से जी रहा था। हालाँकि, मृत्यु के स्वामी यम ने उसे जीवित रहने केलिए नहीं छोड़ा।

उस अवसर पर, वैद्यनाथ शास्त्री ने निम्नलिखित श्लोक का उद्धरण दिया, जिसे परमगुरुजी ने एकान्त की स्थिति में रचा था।

धनं वा धान्यं वा भवतु बहुशो भोग्यमपि वा
विरामे को ब्रूते ननु चिरमहं निर्वृत इति।
प्रकोप-प्रोद्भिन्न-प्रकट-यमदंष्ट्रां तु पुरतः
प्रपश्यन्किं कुर्यात्प्रसभमवसाने प्रभुरपि॥

(अत्यधिक धन, अनाज या सुख के विपुल साधन होने पर भी, अपने जीवन के अन्त में कौन कहता है कि वह दीर्घकाल से तृप्त है? अपने समक्ष यम के क्रोध में प्रकट दाँत देखकर, एक राजा भी क्या कर सकता है?)

यह सुनकर, परमगुरुजी ने कहा, "प्रबोध-सुधाकर में भगवत्पाद जी का एक श्लोक है, जो इस अवसर के लिए उपयुक्त है और उद्धृत करने योग्य है।" श्री श्रीनिवास शास्त्री के अतिरिक्त, सभी चुप रहे। उन्होंने पाठ किया —

यो देहः सुप्तोऽभूत् सुपुष्प-शय्योपशोभिते तल्पे।
सम्प्रति स रज्जुकाष्ठैर्नियन्त्रितः क्षिप्यते वह्नौ॥ (प्रबोध-सुधाकर 1.25)

(फूलों से सजी चारपाई पर सोए हुए शरीर को, अब ले जाया जाता है, रस्सियों से लट्ठों में बाँधा जाता है और आग में डाल दिया जाता है।)

परमगुरुजी ने श्लोक का महत्त्व समझाया। उन्होंने बताया कि मृत व्यक्ति, पिछली रात को भी सभी सुख-सुविधाओं के बीच में था। सोते समय, उसका हृदय अचानक रुक गया था और अब वह बाँस से रस्सियों से बाँधा गया था। अब उनका अन्तिम अग्नि संस्कार होने वाला था। यह सभी का भाग्य होगा और कोई भी अपवाद नहीं था।

नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसञ्चयः। (नारद-पुराण, पूर्वार्ध 39.49)

(मृत्यु सदैव समीप है। इसलिए, धर्म को सञ्चित करना चाहिए।)

गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥ (हितोपदेश, प्रास्ताविका 3)

((बिना किसी विलम्ब के) धर्म का आचरण करना चाहिए जैसे कि किसी का केश गुच्छ मृत्यु की चपेट में हो।)

हमें अपने धर्म का पालन करना चाहिए और मन को शुद्ध करना चाहिए, ताकि हम आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर सकें और सभी दुखों से मुक्त हो सकें। तभी हमारे जीवन का लक्ष्य प्राप्त होगा। जब वे बोल रहे थे, परमगुरुजी की दृष्टि अनवरत श्री श्रीनिवास शास्त्री के मुख पर थी। उसी समय, एक महिला की चीख-पुकार सुनाई दी। मरे हुए धनी व्यक्ति का दयनीय मुखमण्डल देखकर उसकी माँ ने वेदना का रोना रोया था। "कई व्रत और अनुष्ठान पूरी करने के बाद जो पुत्र मुझे प्राप्त हुआ, वह भी टिका नहीं। यदि उनका जन्म न भी होता, तो भी मुझे अपनी वर्तमान गहरी पीड़ा नहीं

भोगनी पड़ती। विवाह करने के बाद अब उसने अपनी युवा पत्नी को निराश्रित छोड़ दिया है। क्या सन्तान प्राप्ति का यही एक मात्र लाभ है?" शोकाकुल माँ ने विलाप किया। श्री श्रीनिवास शास्त्री ने यह सब ध्यान से देखा। "क्षणभङ्गुर अस्तित्व का क्या यही सार है? मुझे यह सर्वथा नहीं चाहिए," उन्होंने बुदबुदाया। ये शब्द वैद्यनाथ शास्त्री ने सुने थे। श्री श्रीनिवास शास्त्री के मुखमण्डल के हाव-भाव से परमगुरुजी अपने शिष्य की मनःस्थिति को आसानी से समझ सकते थे। उन्हें प्रसन्नता हुई कि उनकी शिक्षाओं का अभीष्ट प्रभाव हो रहा है।

कई अवसरों पर, परमगुरुजी ने श्री श्रीनिवास शास्त्री से अकेले में वैराग्य और ब्रह्मचर्य के बारे में बात की। कुछ निजी सत्रों में दिए गए परामर्श का सङ्क्षिप्त विवरण इस प्रकार है। [*गुरुजी ने मुझे विस्तार से बताया — कुछ भाग 1977 में और शेष 1984 में।*]

(i) विद्या, धन या भोग की कोई भी मात्रा दुःख से पूर्ण मुक्ति और चिरस्थायी आनन्द प्रदान नहीं कर सकती है। केवल सत्य का बोध ही ऐसा कर सकता है। उदाहरण के लिए, राजपद, दिव्य अस्त्र-शस्त्र, देवलोक की अप्सराएँ और यहाँ तक कि एक नया ब्रह्माण्ड बनाने की शक्ति ने, विश्वामित्र को सभी दुखों से मुक्त नहीं किया। छान्दोग्य-उपनिषद् में यह वर्णन किया गया है कि वेदों और विभिन्न शास्त्रों में पारङ्गत होने पर भी, नारद दुःख का अनुभव करते रहे; सनत्कुमार से ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही उन्होंने सभी दुखों को पार किया।

लब्धा विद्या राजमान्या ततः किं
प्राप्ता सम्पत्प्राभवाढ्या ततः किम्।
भुक्ता नारी सुन्दराङ्गी ततः किं
येन स्वात्मा नैव साक्षात्कृतोऽभूत्॥ (अनात्मश्रीविगर्हणम् 1)

(अगर स्वयं सम्प्रभु द्वारा सम्मानित ज्ञान प्राप्त किया गया है, तो क्या हुआ? अगर अपार समृद्धि प्राप्त की गई है, तो क्या हुआ? अगर एक सर्वसुन्दरी का सुखभोग किया गया है, तो क्या हुआ? जिसने स्वयं अपनी आत्मा का साक्षात्कार नहीं पाया है, उसके लिए क्या है?)

अत्यन्त निर्मल मन में ही ज्ञान का उदय होता है। इच्छाएँ अशुद्धियाँ हैं जो मन को दूषित करती हैं। मन को शुद्ध और ज्ञानोदय के योग्य बनाने के लिए, उन्हें बड़े परिश्रम से हटाना होगा।

(ii) इन्द्रिय-विषय सुख का स्रोत नहीं हैं। यह सोचना दोषयुक्त है कि वे सुख के स्रोत हैं। यदि कोई वस्तु आन्तरिक रूप से किसी व्यक्ति के लिए आनन्द का स्रोत होती है, तो वह वस्तु उसे कदापि दुःखप्रद नहीं होनी चाहिए। हालाँकि, यह सर्वविदित है कि वस्तुएँ कभी-कभी वाञ्छित होती हैं और कभी-कभी अवाञ्छित। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति, जिसे भोजन के समय गम्भीर मतली लगती है, उसे जो व्यञ्जन स्वादिष्ट लगते हैं, वे अनुपयुक्त और उपभोग करने के लिए बोझ से लगते हैं। कोई वस्तु किसी व्यक्ति के लिए आन्तरिक रूप से सुख का स्रोत कैसे हो सकती है, जबकि वह वस्तु वही रहने पर भी, कभी-कभी उसी व्यक्ति को दुःख पहुँचाती है?

जब मन में किसी वस्तु की इच्छा उत्पन्न होती है, तो मन शान्ति खो देता है और जब तक लालसा बनी रहती है, तब तक सुख नहीं रहता। जब अभीष्ट वस्तु प्राप्त हो जाती है, तो मन को उत्तेजित करने वाली इच्छा अस्थायी रूप से शान्त हो जाती है। मन के शान्त होने से ही आनन्द की अनुभूति होती है। इस प्रकार, शान्ति सुख देती है न कि इच्छा या इन्द्रिय-विषय। गहरी नींद में, जब कोई भी इन्द्रिय वस्तु नहीं दिखाई देती है और मन अन्तर्निहित स्थिति में होता है, तो बहुत बड़ा सुख होता है। जिस ऋषि का मन अत्यन्त शान्त और परमात्मा पर केन्द्रित होता है, उसे अपार सुख प्राप्त होता है।

स्थिर मानसिक शान्ति कभी भी लालसाओं के परितोषण से नहीं हो सकती। कुछ समय के लिए आशा को शान्त करने पर भी, परितोषण केवल इच्छा की वृद्धि की ओर ले जाता है; इच्छा बाद में फ़िर से प्रकट होती है, बढ़ी हुई शक्ति के साथ। इसलिए, ऐन्द्रिय विषयों की इच्छा करना और उन्हें प्राप्त करने हेतु प्रयास करना, सभी की अभीष्ट सुख पाने

का दोषपूर्ण प्रकार है। यह समझकर कि इन्द्रिय-विषय कभी सुख का कारण नहीं होते, व्यक्ति को उनके प्रति वैराग्य विकसित करना चाहिए। विरक्त व्यक्ति शान्त और प्रसन्न रहता है।

(iii) पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने से बहुत लाभ होता है। इसके लिए मन पर पूर्ण नियन्त्रण आवश्यक है। ऐसी महारत पाने के लिए, इन्द्रिय-विषयों के बारे में सोचने से बचना चाहिए। इसका कारण यह है कि जैसे-जैसे व्यक्ति विषयों के बारे में सोचता है, उसमें धीरे-धीरे उनके प्रति एक स्तर तक लगाव विकसित हो जाता है। जब आसक्ति को बढ़ने दिया जाता है, तो यह एक तीव्र इच्छा बन जाती है। जब एक शक्तिशाली लालसा को प्रकट होने दिया जाता है, तो उसका नियन्त्रण और उखाड़ना कठिन हो जाते हैं। जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु या सम्मान की प्रबल इच्छा करता है और उसकी लालसा की संसिद्धि किसी व्यक्ति या स्थिति से विफल हो जाती है, तो वह चिढ़ जाता है।

जब कोई व्यक्ति क्रोध को स्थान देता है, तो वह सही और त्रुटि के बीच उचित भेद करने की अपनी शक्ति खो बैठता है। यह सर्वविदित है कि क्रोधित व्यक्ति अपने गुरु का भी अपमान कर सकता है। सदाचार के विषय में जो कुछ सिखाया गया है, उसका स्मरण भ्रान्ति से खो जाता है। स्मृति के इस विनाश से बुद्धि की क्रिया बाधित हो जाती है और उस अवस्था में मनुष्य नष्टप्राय हो जाता है। इस प्रकार, इस सारी बुराई का बीज इन्द्रिय वस्तुओं के बारे में सोचना ही है। इसलिए, यदि तुम अपने मन को नियन्त्रित करना चाहते हो, तो तुम्हें अपने मन को इन्द्रियों के विषयों की सोच में नहीं पड़ने देना चाहिए।

(iv) वैवाहिक जीवन बन्धन का एक बड़ा स्रोत है। एक गृहस्थ को न केवल अपनी, प्रत्युत अपने परिवार की भी, आवश्यकताओं का पूरा करना होता है। इसलिए, वह स्वयं को पूर्ण रूप से ध्यान और ऐसी आध्यात्मिक साधनाओं के लिए समर्पित नहीं कर सकता। बहुत से लोग ऐसे होते हैं जो विवाह कर लेते हैं और सोचते हैं कि जीवन की यह रीति

उनके लिए अच्छा है। वस्तुतः, एक विवेकशाली व्यक्ति के लिए, पारिवारिक जीवन इतने दुखों से भरा होता है कि विवाह के स्थान पर, जलते कोयले पर खड़ा होना ही श्रेष्ठतर है।

शरीर तो त्वचा, रक्त, माँस, हड्डियों आदि से बना है। इस शरीर के अन्दर, मूत्र और मल समाविष्ट हैं। स्त्री का शरीर भी, जिसे एक अविवेकी अत्यधिक सुन्दर समझता है, इसी प्रकार का होता है। भगवत्पाद जी ने सिखाया है —

नारी-स्तनभर-नाभीदेशं दृष्ट्वा मा गा मोहावेशम्।
एतन्मांसवसादि-विकारं मनसि विचिन्तय वारं वारम्॥ (मोहमुद्गर 3)

(स्त्री के स्तनों और नाभिप्रदेश को देखकर, मोह का आखेट मत बनो। स्त्री-देह माँस, चर्बी इत्यादि का ही रूपान्तरण है; इस प्रकार अपने मन में बार-बार विचार करो।)

विवेक की इस प्रकार सहायता लेना, व्यक्ति को काम-वासना का विरोध करने और ब्रह्मचर्य में स्थापित होने में सक्षम बनाता है।

{गुरुजी ने मुझसे कहा है, "मेरे गुरुजी इतने दयालु थे कि जब मैं कामनाओं से पीड़ित होने के लिए बहुत छोटा था, तभी उन्होंने इन्द्रिय सुखों की व्यर्थता पर बल दिया और वैराग्य के महत्त्व पर ज़ोर दिया; और इस प्रकार, मेरे मन में अनुराग के बीज के लिए भी कोई अवसर नहीं छोड़ा। उन्होंने मुझे संन्यास के लिए योग्य बना दिया।"}

1931 में, श्री श्रीनिवास शास्त्री को एक रात तेज़ ज्वर हो गया और वे अचेत हो गए। वे असम्बद्ध बोलने लगे। जब इस विषय की सूचना परमगुरुजी को दी गई, तो उन्होंने न तो चिकित्सा की अनुमति दी, न ही उन्होंने प्रसाद के रूप में पवित्र भस्म दिया, जैसे उन्होंने अन्य छात्रों के सम्बन्ध में किया था जब वे अस्वस्थ हो गए थे। तथापि, उन्होंने विशेष रूप से वैद्यनाथ शास्त्री को निर्देश दिया कि जो भी श्री श्रीनिवास शास्त्री प्रलाप में बोलें, उसे लिखें और

उन्हें सूचित करें। श्री श्रीनिवास शास्त्री के शब्दों में मुख्य रूप से परमगुरुजी के प्रति समर्पण और सत्य की घोषणा का एक असामान्य संयोजन समाविष्ट था। वे कहते रहे —

सद्गुरो शरणं, शिवोऽहं शिवोऽहम्।

(हे सद्गुरो! आप शरण हैं। मैं शिव हूँ। मैं शिव हूँ।)

उनकी स्थिति में सुधार के बिना तीन दिन बीत गए। वे परमगुरुजी से भस्म-प्रसाद की प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्हें सांत्वना देने के लिए, वैद्यनाथ शास्त्री ने उन्हें यह झूठ कह दिया कि परमगुरुजी स्वयं उन पर कृपा करेंगे। उसके बाद, श्री श्रीनिवास शास्त्री निरन्तर जाप करने लगे —

सद्गुरो पाहि, सद्गुरो पाहि।

(हे सद्गुरो! मेरी रक्षा कीजिए। हे सद्गुरो! मेरी रक्षा कीजिए।)

जब परमगुरुजी अगले दिन एकादशी के अपने मध्याह्न के स्नान के लिए नदी की ओर जा रहे थे, उन्होंने श्री श्रीनिवास शास्त्री का जाप सुना। यह सुनिश्चित करने के बाद कि केवल वैद्यनाथ शास्त्री ही आसपास थे, परमगुरुजी ने अचानक उस कक्ष में प्रवेश किया जहाँ श्री श्रीनिवास शास्त्री लेटे थे। अपने गुरु को देखते ही, श्री श्रीनिवास शास्त्री उठे और फिर ऐसा दण्डवत् किया कि उनका माथा अपने गुरुजी के चरणों पर टिक गया। वैद्यनाथ शास्त्री चौंक गए, क्योंकि किसी के लिए भी जगद्गुरु को स्पर्श करने की पद्धति नहीं थी। हालाँकि, परमगुरुजी ने अस्वीकृति का कोई सङ्केत नहीं दिखाया। धीरे से अपने शिष्य को उठाते हुए, उन्होंने नरमी से कहा, "क्या तुम्हें अभी भी ज्वर है? चिन्ता मत करो। जाओ और लेट जाओ।" फिर वे चले गए। श्री श्रीनिवास शास्त्री का ज्वर तुरन्त ओझल हो गया। परमगुरुजी के स्पर्श के बाद, वे अपेक्षाकृत अन्तर्मुखी हो गए और आकस्मातिक बातचीत से बचते रहे।

उस रात और आगामी कुछ रातों में, परमगुरुजी ने अपने चन्द्रमौलीश्वर-पूजा के समय, इस प्रकार प्रार्थना की —

सर्वज्ञं श्रीनिवासं कुरु शिव-दयिते सत्वरं मद्विनम्रम्।

(शारदाम्बा से परमगुरुजी की प्रार्थना)

(हे शिवप्रिये! मेरे शिष्य श्रीनिवास को शीघ्र ही सर्वज्ञ बना दो।)

लगभग एक महीने के बाद, परमगुरुजी ने औपचारिक रूप से घोषणा की कि शारदाम्बा और उनके गुरुजी की इच्छा से प्रेरित होकर, उन्होंने श्री श्रीनिवास शास्त्री को संन्यास की दीक्षा देने और उन्हें पीठ के अपने उत्तराधिकारी के रूप में मनोनीत करने का निर्णय लिया है। संन्यास की दीक्षा 1931 मई 22 को सम्पन्न हुई।

मठ की परम्परा के अनुसार, शिष्य-स्वीकार के दिन, शृङ्गेरी की वीथियों में परमगुरुजी और गुरुजी को क्रमशः सोने और चाँदी की पालकियों में ले जाना था। दोनों गुरुवर्य राज दरबार के परिधानों में थे। परमगुरुजी ने अपनी उङ्गली बाहर निकाल रखी; गुरुजी ने उसे पकड़ लिया और उनके पीछे चले। चाँदी की पालकी पहुँचने तक परमगुरुजी आगे चलते रहे। अप्रत्याशित रूप से, उन्होंने अपनी उङ्गली हटा ली और उस रजत पालकी पर आसीन हो गए। तत्पश्चात्, उन्होंने गुरुजी को स्वर्ण पालकी में बैठने को कहा। यह बहुत ही असामान्य था।

शास्त्र कहता है कि शिष्य को अपने गुरु का अनुसरण करना चाहिए और उनसे आगे नहीं जाना चाहिए। परमगुरुजी की आज्ञा के कारण, गुरुजी को इस नियम का उल्लङ्घन करना पड़ा। गुरु के आसन का सम्मान किया जाना चाहिए और शिष्य द्वारा ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए; सोने की पालकी वह थी जिसका परमगुरुजी ने वर्षों से उपयोग किया था। लोगों से गुरुजी के सोने की पालकी में बैठने के कारण को जानने की आशा नहीं की जा सकती थी। औचित्य के इस घोर उल्लङ्घन के लिए, वे कम से कम मानसिक रूप से गुरुजी की निन्दा तो कर ही सकते थे। ऐसे विचारों के होते हुए भी, और यद्यपि वे तब केवल साढ़े तेरह वर्ष के थे, गुरुजी को किसी भी प्रकार का भ्रम नहीं हुआ। जहाँ तक उनका सम्बन्ध था, गुरु की आज्ञा का पालन करना ही था, बिना किसी झिझक के। वे उस दिन सोने की पालकी

में बैठे। गुरुजी की अपने संन्यास के दिन भी अपने गुरु के प्रति आज्ञाकारिता ऐसी थी।

1973 में मैंने इस घटना का उल्लेख किया और उनसे पूछा, "परमगुरुजी से इतना कठिन निर्देश प्राप्त करने पर, गुरुजी को क्या प्रतीत हुआ?" तब गुरुजी बोले, "प्रतीत होने के लिए क्या विचार था? 'मेरे गुरुजी की आज्ञा अनुल्लङ्घनीय है। एक शिष्य के नाते, इसका पालन करना मेरा कर्तव्य है।' बस, तब मेरा केवल यही विचार था।"

द्वितीय खण्ड

गुरुजी ने अपनी अनन्त और अहैतुक करुणा से, अपने आध्यात्मिक साधनाओं के अभ्यास, आत्म-साक्षात्कार और जीवन्मुक्ति (जीवित रहते हुए ही संसार बन्धन से मुक्ति) प्राप्त करने की दिव्य लीला का पूर्ण विवरण मुझे सुनाया। इस **द्वितीय खण्ड** में, मैंने उन विभिन्न वार्तालापों को यथासम्भव सच्चाई से दोहराया है, जिनके माध्यम से मेरे परम पूजनीय गुरु ने ऐसा किया था। इस विवरण में, 1931 की मई से लेकर — याने जब गुरुजी साढ़े तेरह वर्ष की उम्र में परमहंस संन्यासी बने थे — 1935 की दिसंबर तक की — याने जब अठारह वर्ष की उम्र में उन्होंने जीवन्मुक्त के रूप में पूर्णता प्राप्त की थी — घटनाएँ सम्मिलित हैं। प्रत्येक संवाद किस समय पर एवं कहाँ और किस सन्दर्भ में हुआ — इसका उल्लेख किया गया है। जिस क्रम में प्रमुख घटनाएँ घटीं, उसी क्रम में उन्हें दर्शाने के लिए, संवादों को अनुक्रमित किया गया है।

परब्रह्म-मायेश-कारुण्यसिन्धुं
स्वमाया-धृताङ्गं सदा-बन्धशून्यम्।
कृताध्यात्मिकाभ्यास-सिद्ध्याप्तिलीलं
भवाचार्य-मत्कृत्स्नमेकं प्रपद्ये॥

मैं उन्हीं के शरण में जाता हूँ
जो परम ब्रह्म हैं, जो माया के ईश हैं, जो करुणा के महासागर हैं,
जिन्होंने अपने ही माया द्वारा शरीर का धारण किया है,
जो सदा बन्धों से रहित हैं,
जिन्होंने अपने आध्यात्मिक साधनाओं के माध्यम से सिद्धि प्राप्त करने की
दिव्य लीला का प्रदर्शन किया है,
जो समग्र जगत् के गुरु हैं और जो मेरे सर्वस्व हैं।

4. हठ-योग

[निम्नलिखित संवाद 1975 मई में शृङ्गेरी में हुआ। इसके पीछे एक भूमिका थी। मैंने गुरुजी से निवेदन किया कि जब मैं मद्रास में था, सतत रातों के मेरे स्वप्नों में, मैंने गुरुजी को मुझे भगवद्गीता के छठे अध्याय पर भगवत्पाद जी का भाष्य बोधन कर, मुझे अनुगृहीत करते हुए देखा। एक स्वप्न की कक्षा अगले स्वप्न में चलती रही। उस समय तक, मैंने भगवत्पाद जी के गीताभाष्य का अध्ययन नहीं किया था।

*गुरुजी ने पूछा, "क्या वे स्पष्टीकरण तुम्हारी स्मृति में हैं जो तुमने सुने थे?" मैंने उत्तर दिया, "गुरुजी की कृपा से, वे पूर्णतः मेरी स्मृति में हैं, साथ ही ध्यान के अभ्यास और फल से सम्बन्धित श्लोक पर भाष्य के शब्द भी हैं।" गुरुजी ने गीताभाष्य मंगवाया। फिर उन्होंने मुझे "***शनैश्शनैरुपरमेत्...***" और "***यतो यतो निश्चरति...***" श्लोकों पर भाष्य सुनाने के लिए कहा। मैंने आदेश का पालन किया। गुरुजी ने उस अध्याय के भगवत्पाद जी के उपोद्घात भाष्य से एक अनुच्छेद पढ़ा और मुझे उसे समझाने के लिए कहा। उन्होंने मेरी प्रतिक्रिया पर कोई टिप्पणी किए बिना, मैंने जो सुना था उसके अनुसार, एक श्लोक में एक विरोधाभास को हल करने का निर्देश मुझे दिया। अन्त में, उन्होंने मुझसे पूछा कि भाष्य में एक शब्द का प्रयोग किन दो अर्थों में किया गया है।*

जब मैंने उत्तर देना समाप्त किया, तब गुरुजी प्रसन्नता से स्मितमुख थे। मेरे कन्धे पर थपथपाते हुए उन्होंने कहा, "यदि अभी मैं तुम्हें भाष्य पढ़ा रहा होता, तो मेरे उस विवरण के अनुरूप ही तुम्हारे उत्तर हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भगवान ने तुम्हें उन स्वप्नों के माध्यम से सिखाकर, तुम पर अनुग्रह किया। मेरे प्रति तुम्हारी भक्ति के कारण, तुम मुझे उन्हें बोधन करते हुए देखते हो, किन्तु मैं केवल एक साधारण मनुष्य हूँ। मैं तुम्हारे अनुभव की विशेष रूप से सराहना कर सकता हूँ, क्योंकि जब मैं छोटा था, तो मुझे भी ऐसा एक अनुभव हुआ था।" नीचे दिए गए संवाद से पहले, यही हुआ था।]

गुरुजी - परमेश्वर (शिव जी) ने मुझे सतत रातों में आए सात स्वप्नों के माध्यम से, योग के बारे में निर्देश दिया। स्वप्नों का सिलसिला एक से दूसरे तक बना रहा। क्या तुम उनके बारे में सुनना चाहते हो?

मैं - अवश्य।

गुरुजी - जिस दिन मुझे संन्यास की दीक्षा दी गई, उस दिन रात को सोते समय, मैं थक गया था। सदैव की भाँति, जैसे ही मैंने अपनी आँखें मूँद लीं, मैं सो गया। उस रात मैंने एक स्वप्न देखा जिसका मैं अब भी स्पष्ट रूप से स्मरण कर सकता हूँ। उसमें मैंने स्वयं को एक ऊँचे, हिम से ढके पहाड़ के विस्मयात्मक सुरम्य शिखर पर पाया।

मैं - स्वप्न में गुरुजी क्या पहने थे?

गुरुजी - गेरू का ऊपरी और निचला वस्त्र जैसा कि मैंने अभी पहना हुआ है। मैंने उस दिन में जो वस्त्र पहना था, उसके विपरीत, इसमें ज़री की कोई आँच नहीं थी। हो सकता है कि मुझे पहनने के लिए आवश्यक महंगे गेरुए वस्त्र के स्थान पर, एक साधारण गेरुए वस्त्र के लिए मेरी व्यक्तिगत रुचि को स्वप्न ने प्रतिबिम्बित किया। संन्यास लेने से दो दिन पहले मैंने सोचा था, "स्वप्न मेरे वश में नहीं हैं। उनमें की गई त्रुटियों के परिणाम स्वरूप पाप नहीं लगता। फिर भी, मेरा त्याग इतना शुद्ध और दृढ़ होना चाहिए कि संन्यास दीक्षा के बाद, मुझे अपने आप को किसी भी स्वप्न में श्वेत कपड़े पहने हुए नहीं देखना चाहिए, जैसा कि मैं अभी हूँ। गायत्री-मन्त्र का जप करना मुझे अभीष्ट है। फिर भी, चूँकि परमहंस-संन्यासियों के लिए गायत्री-मन्त्र का जप मना है, मुझे परसों से अपने स्वप्नों में भी इससे संलग्न नहीं होना चाहिए।" भगवान की कृपा से, आज तक यह चलते आ रहा है।

यद्यपि पहाड़ हिमाच्छादित था, फिर भी मुझे ठंड नहीं लग रही थी। मेरे सामने लगभग बीस फुट की दूरी पर, मैंने एक बृहत स्फटिक शिवलिङ्ग देखा। ऊपर से जल-धारा प्रवाह रूप से उस पर गिर रही थी। मैं जल का स्रोत नहीं देख सका। मैं रुद्र (श्रीरुद्र-प्रश्न) के सामूहिक पाठ सुन सकता था, परन्तु उस मन्त्र का पाठ करने वाला कोई दिखाई नहीं दे रहा था। अचानक, प्रकाश की एक बड़ी दीप्ति की चकाचौंध हुई और उस लिङ्ग से, भगवान शिव जी प्रकट हो गए।

{यहाँ गुरुजी मौन रहे। उन्होंने अपनी आँखें मूँद लीं और कुछ समय के लिए, अविचल रहे। अपनी आँखें खोलते ही, उन्होंने गहरी साँस अन्दर ली और छोड़ी। फिर उन्होंने अपना कथन बनाए रखा।}

(**गुरुजी** -) जैसा कि मैंने उन्हें देखा, प्रभु का एक मुख था और दो बाहुएँ थीं। वे अत्यन्त गोरे रंग के और दीप्तिमान थे। उनके बाल जटाजूट और कपिल रंग के थे। उन्हें देखते ही, मैं इतना विस्मय से भर गया कि मैं अचल खड़ा रहा। उन्होंने मन्दहास सहित मेरी ओर देखा और आशीर्वाद की मुद्रा में अपना दाहिना हाथ उठाया। मुझे लगा कि एक बड़ी शक्ति मुझमें प्रवेश कर रही है। अपने आप से, मैं मानसिक रूप से प्रणव (ॐ) का जप करने लगा। उन्होंने मुझे बैठने के लिए सङ्केत दिया। जहाँ मैं खड़ा था, वहाँ पर मृगचर्म का एक आसन दिखाई दिया जिस पर गेरूए रंग का कपड़ा फैला हुआ था। मैंने नमस्कार किया और उनके आज्ञानुसार बैठ गया, भले ही वे खड़े ही थे।

परमेश्वर मेरे समीप आए। धरती पर एक बड़ा व्याघ्रचर्म दिखाई दिया और उस पर वे बैठ गए। उन्होंने पद्मासन में अपने पैर रखे और मुझसे भी ऐसा करने का आदेश दिया। जबकि मैं जानता था कि पद्मासन को कैसे अपनाना है, उनकी प्रक्रिया विशेष रूप से सुन्दर थी और मैंने उसे यथासम्भव सही ढंग से अनुकरण किया। फिर उन्होंने सिद्धासन ग्रहण किया। उनके निर्देशानुसार, मैंने उनका अनुकरण किया। उन्होंने अपने हाथों से मेरे ढंग को ठीक किया।

मैं - वह कौन सा बदलाव था?

{जिस प्रकार गुरुजी ने पहले अपने पैर रखे थे और प्रभु द्वारा किए गए परिवर्तन — गुरुजी ने प्रदर्शित किए। बाईं एड़ी को मूलाधार (गुदा और अण्डकोष के बीच के भाग) के साथ, श्रेष्ठतर सम्पर्क में जमाना ही वह सुधार था। इसके बारे में, प्रामाणिक हठयोग-प्रदीपिका ग्रन्थ यों बताता है —

योनिस्थानकमङ्घ्रिमूल-घटितं कृत्वा... (हठयोग-प्रदीपिका 1.35)

गुदा और लिङ्ग के बीच के क्षेत्र में (बाएँ) पैर की एड़ी को दृढ़ता से रखकर...}

गुरुजी - सिद्धासन में बैठे, भगवान ने दिखाया कि प्राणायाम कैसे किया जाता है। भीतरी वायु को बाहर छोड़ते हुए, वे बाएँ नासा छिद्र से सहजता से श्वास लेने लगे। पूरक (अन्तःश्वसन) के पूरा होने पर, उन्होंने अपनी उङ्गलियों से अपने दोनों नथुनों को बन्द कर दिया और जालन्धर-बन्ध बनाने के लिए अपनी ठोड़ी को नीचा करके, अपनी छाती से जोड़ा। कुम्भक (अवधारण) के अन्त में, मैंने उन्हें उड्डीयान-बन्ध को अपनाने के लिए अपने पेट को गहराई से अन्दर और ऊपर की ओर खींचते हुए देखा। उनका शरीर सुचारू रूप से भूमि से लगभग एक फुट ऊपर उठा। अपना सिर उठाते हुए, उन्होंने दाहिने नथुने से सहजता से श्वास छोड़ी। उनके ऐसा करते ही, उनका शरीर धीरे-धीरे भूमि पर लौट आया। उन्होंने फिर दाहिने नासाछिद्र से श्वास लेते हुए और बाएँ नासाछिद्र से श्वास छोड़ते हुए इस प्रक्रिया को दोहराया।

{जालन्धर और उड्डीयान बन्धों को हठयोग-प्रदीपिका इस प्रकार परिभाषित करती है —

कण्ठमाकुञ्च हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरा-मृत्यु-विनाशकः॥ (हठयोग-प्रदीपिका 3.70)

गले को संकुचित करके, ठोड़ी को छाती से दृढता से लगाना चाहिए। यह जालन्धर नामक बन्ध है। यह बुढ़ापे और मृत्यु को नष्ट करता है।

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी॥ (हठयोग-प्रदीपिका 3.71)

नाभि के ऊपरी और निचले पेट को पीठ की ओर खींचा जाना चाहिए। यह उड्डीयान-बन्ध है। यह हाथी-रूपी मृत्यु को मारने वाला शेर है।

हठयोग-प्रदीपिका बताती है कि प्राणायाम करते समय, जालन्धर और उड्डीयान बन्धों का अभ्यास कब किया जाना चाहिए —

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः।
कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डीयानकः॥ (हठयोग-प्रदीपिका 2.45)

जालन्धर नामक बन्ध का अभ्यास अन्तःश्वसन के अन्त में किया जाना चाहिए। कुम्भक के अन्त में और साँस छोड़ने के आरम्भ से पहले उड्डीयान का अभ्यास किया जाना चाहिए।

इस श्लोक पर ज्योत्स्ना टीका स्पष्ट करती है —

उड्डियानकस्तु कुम्भकान्ते कुम्भकस्यान्ते किञ्चित् कुम्भकशेषे, रेचकस्यादौ रेचकादौ रेचकात् पूर्वं, कर्तव्यः।

'कुम्भक के अन्त में' उड्डीयान का अभ्यास किया जाना चाहिए, जो कि कुम्भक के समापन से थोड़ा पहले और रेचक से पूर्व।

हठयोग-प्रदीपिका का इन बन्धों का वर्णन व प्राणायाम के समय इनका अभ्यास कब किया जाना चाहिए — इसका विवरण ध्यानबिन्दु, योगशिखा और योगकुण्डली इत्यादि उपनिषदों में उपलब्ध वर्णन से मेल खाता है।}

मैं - क्या भगवान ने बन्धों के नामों का उल्लेख किया?

गुरुजी - नहीं। प्रभु ने पद्मासन और सिद्धासन के नामों का भी उल्लेख नहीं किया।

मैं - क्या भगवान ने पूरक, कुम्भक और रेचक की सापेक्ष अवधि की बात की?

गुरुजी - नहीं। उन्हें ऐसा करने की क्या आवश्यकता थी, जब मैं स्वयं उनके समय मापने में सक्षम था? उनके नथुनों पर उनकी उँगलियों की स्थिति को देखकर और उनके मध्यपट का अवलोकन कर, मैं अनुमान लगा सकता था कि वे कब पूरक, कुम्भक और रेचक में लगे हुए थे। जैसा कि मैंने तुम्हें बताया था, प्रभु के आशीर्वाद के बाद, मैंने सहज रूप से प्रणव का जप करना प्रारम्भ कर दिया था। प्रणवों की सङ्ख्या के आधार पर, मैंने निर्धारित किया कि प्रभु का कुम्भक उनके पूरक से चार गुना था, जबकि उनका रेचक उनके पूरक से दुगुना था। मैं उनके प्राणायाम के दूसरे चक्र के समय इस निश्चय पर पहुँचा। सिद्धासन में प्राणायाम का अभ्यास प्रदर्शित करने के बाद, प्रभु ने उसे पद्मासन में किया।

जब मैंने पहली बार तुम्हें प्राणायाम सिखाया, तो मुझे लगा कि स्वप्न में मैंने जो देखा था, उसका अनुकरण मुझे करना चाहिए। यही कारण है कि मैंने बन्धो के साथ पहले सिद्धासन में दो बार, फिर पद्मासन में दो बार, प्राणायाम किया। मेरे पूरक, कुम्भक और रेचक की कालावधि वही थी जो मेरे द्वारा उस स्वप्न में ग्रहण की गई थी। मैंने जो तुम्हें बताया, उसमें स्वप्न से केवल इतना ही भेद था कि उड्डीयान-बन्ध को तुम छोड़ सकते हो और उसके स्थान पर, पेट को उस सीमा तक खींच सकते हो जितना मैंने उस समय तुम्हें दिखाया था। क्या तुम मुझे बता सकते हो कि मैंने उस समय प्राणायाम की भूमिका के बारे में क्या कहा था?

मैं - चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्। (हठयोग-प्रदीपिका 2.2)

(जब श्वास सक्रिय होती है, तो चित्त सक्रिय रहता है। जब श्वास निश्चल होता है, तब चित्त शान्त होता है।)

गुरुजी ने इस अर्ध-श्लोक को उद्धृत किया। फिर, गुरुजी ने कहा कि जब चित्त प्रक्षुब्ध होता है, तब श्वास धीमी और लयबद्ध नहीं होती है। दूसरी ओर, मन के शान्त होने पर, श्वास धीमी और लयबद्ध होती है। सामान्य अवलोकन बताता है कि किसी की मानसिक स्थिति और श्वसन के बीच एक सम्बन्ध है। किसी की मानसिक स्थिति उसकी श्वसन को प्रभावित करती है; इतना ही नहीं, पर इसका विपर्यय भी तथ्य है — यानि श्वसन क्रिया भी मन की स्थिति पर प्रभाव डालती है। श्वास तो प्राण की गतिविधि की एक स्थूल अभिव्यक्ति है। सहसम्बन्ध तो मूलतः मन और प्राण की गतिविधियों के बीच है। प्राण को नियन्त्रित करने से चित्त को नियन्त्रित किया जा सकता है। श्वास के नियन्त्रण के माध्यम से, प्राणायाम का अभ्यास करने वाला साधक, प्राण की गतिविधि का नियन्त्रण करता है और उसके फलस्वरूप, मन की गतिविधि को नियन्त्रित करता है।

धारणासु च योग्यता मनसः। (योगसूत्र 2.53)

(तब मन स्थिर अवधान के योग्य हो जाता है।)

इस सूत्र को उद्धृत करते हुए, गुरुजी ने कहा कि ध्यान के अभ्यास को प्राणायाम सुगम बनाता है।

यथा पर्वतधातूनां दह्यन्ते धमनान्मलाः।
तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणधारणात्॥

(अमृतनाद-उपनिषद् 7)

(जिस प्रकार भट्टी-विस्फोट से अयस्कों की अशुद्धियाँ जल जाती हैं, उसी प्रकार प्राण के नियन्त्रण से इन्द्रियों के दोष भस्म किए जाते हैं।)

फिर, इस श्लोक का उद्धरण देते हुए, गुरुजी ने सरल रूप से तमिल में इसका अनुवाद किया था और कहा था कि प्राणायाम एक महान शुद्धिकारक है।

गुरुजी - क्या तुम जानते हो कि मैंने तुम्हें उस समय जो कहा था, उसे दोहराने के लिए तुमसे क्यों कहा?

मैं - मुझे लगता है कि ऐसा इसलिए क्योंकि वह उपदेश गुरुजी के स्वप्न में था।

गुरुजी - तुम्हारी समझ सही है। सिद्धासन और पद्मासन में प्राणायाम के अभ्यास का प्रदर्शन करने के बाद, भगवान ने "**चले वाते...**" अनुच्छेद का उद्धरण दिया। उनकी कृपा से, उनके बिना कुछ कहे भी, जो स्पष्टीकरण मैंने तुम्हें दिया, वह मेरे चित्त में अङ्कित होने लगा। जब तक वह पूरा नहीं हुआ, तब तक शिव जी मौन रहे। इसके बाद, उन्होंने योगसूत्र और श्रुति की पंक्तियों का उल्लेख किया।

इसके बाद, उन्होंने दिखाया कि पूरक के बाद के स्थान पर, रेचक के बाद श्वास को स्थगित करके प्राणायाम कैसे किया जा सकता है। अन्ततः, उन्होंने मुझे प्राण के विभिन्न प्रकारों के संयम को — जैसे कि सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली और भस्त्रिका — इस प्रकार दिखाया कि मैं उन्हें स्पष्ट रूप से समझ सकूँ और उनमें अन्तर कर सकूँ।

{सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली और भस्त्रिका के बारे में हठयोग-प्रदीपिका कहती है —

अथ सूर्यभेदनम् —
आसने सुखदे योगी बद्धा चैवासनं ततः ।
दक्ष-नाड्या समाकृष्य बहिःस्थं पवनं शनैः ॥
आ केशादा नखाग्राच्च निरोधावधि कुम्भयेत् ।
ततः शनैः सव्य-नाड्या रेचयेत् पवनं शनैः ॥ (हठयोग-प्रदीपिका 2.48,49)

अब सूर्यभेदन के बारे में बताया जाता है। आरामदायक आसन पर एक दृढ़ आसन में बैठे, योगी को धीरे-धीरे दाएँ नासाछिद्र के माध्यम से, बाहर से वायु खींचना चाहिए। उसे उस सीमा तक रोकना चाहिए जब तक कि वह अपने सिर पर बालों से लेकर अपने नाखूनों के अग्रभागों तक अनुभव न करे। फिर, धीरे-धीरे बाएँ नासाछिद्र से श्वास छोड़ना चाहिए।

अथोज्जायी —
मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ।
यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ॥
पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदिडया तथा ।
श्लेष्म-दोष-हरं कण्ठे देहानल-विवर्धनम् ॥ (हठयोग-प्रदीपिका 2.51,52)

अब उज्जायी का वर्णन किया जाता है। मुँह बन्द करके, दोनों नथुनों से धीरे-धीरे वायु अन्दर खींचनी चाहिए ताकि गले से हृदय तक नाद प्रतीत हो। तब श्वास को बनाए रखा जाना चाहिए जिस प्रकार सूर्यभेदन में रखा जाता है और बाएँ नासाछिद्र से वायु को छोड़ना चाहिए। यह गले के कफ़ के दोष को मिटाता है और पाचन की अग्नि को तेज़ करता है।

अथ सीत्कारी —
सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृम्भिकाम् ।
एवमभ्यास-योगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥ (हठयोग-प्रदीपिका 2.54)

अब सीत्कारी प्रस्तुत है। (जीभ को दाँतों के बीच रखकर) एक फुफकार की ध्वनि करते हुए, मुँह से श्वास लेना चाहिए। निःश्वसन केवल नासाछिद्र से होना चाहिए। इस प्रकार अभ्यास करने से व्यक्ति कामदेव के समान आकर्षक हो जाता है।

अथ शीतली —

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भसाधनम्।
शनकैर्घ्राण-रन्ध्राभ्यां रेचयेत्पवनं सुधीः॥

(हठयोग-प्रदीपिका 2.57)

अब शीतली की बात की जाती है। (पक्षी की चोंच की भाँति उभरी हुई और मुड़ी हुई) जीभ के माध्यम से श्वास लेना चाहिए। सूर्यभेदन की भाँति कुम्भक करना चाहिए। फिर, बुद्धिमान व्यक्ति को धीरे-धीरे वायु को दोनों नथुनों से बाहर निकालना चाहिए।

अथ भस्त्रिका —

सम्यक्पद्मासनं बद्धा समग्रीवोदरः सुधीः।
मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत्॥
यथा लगति हृत्कण्ठे कपालावधि सस्वनम्।
वेगेन पूरयेच्चापि हृत्पद्मावधि मारुतम्॥
पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः।

(हठयोग-प्रदीपिका 2.60-62)

अब भस्त्रिका की बात की जाती है। पद्मासन में ठीक बैठकर, पेट और गर्दन को सीधा रखते हुए, बुद्धिमान व्यक्ति को अपना मुँह बन्द करना चाहिए और नासाछिद्र के माध्यम से इतना बलपूर्वक श्वास छोड़ना चाहिए ताकि हृदय और गले से कपाल तक ध्वनि हो। फिर, उसे तेज़ी से हृदय के क्षेत्र तक अन्दर श्वास लेना चाहिए। उसे बार-बार इस शैली में निःश्वसन और अन्तःश्वसन करना चाहिए।}

(**गुरुजी** -) इसके साथ ही स्वप्न समाप्त हो गया और मैं जाग गया। रात के लगभग दो बज रहे थे। प्रभु मुझे आशीर्वाद देते समय जो प्रणव का मेरा मानसिक जाप प्रारम्भ हुआ था, वह मेरे पूरे स्वप्न में बना रहा, तब भी जब मैं प्रभु द्वारा कहे गए उन वचनों को सुन रहा था। जागने पर मैंने देखा कि मैं स्वतः ही अपने मन में प्रणव का जप निरन्तर करता रहा।

किसी शक्ति से प्रेरित होकर, मैं खड़ा हो गया और अपने पैरों को थोड़ा अलग कर दिया। मैं थोड़ा आगे की ओर झुका और अपनी जाँघों को अपने हाथों से

पकड़ लिया। फिर, मैंने धीरे-धीरे श्वास छोड़ा और अपने पेट को अपनी पीठ की ओर और ऊपर की ओर खींच लिया ताकि एक खड़ी मुद्रा में उड्डीयान-बन्ध को अपनाया जा सके। यद्यपि मुझे समझ नहीं आ रहा था कि आधी रात में मैं यह सब क्यों कर रहा था, फिर भी मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि मेरे पेट के क्षेत्र में कितना गहरा विवर बन गया था। कुछ पलों के बाद, मैंने धीरे-धीरे श्वास छोड़ा और सीधा खड़ा हो गया।

और एक बार उस शक्ति से प्रेरित, मैं सिद्धासन में बैठ गया और प्राणायाम करने लगा। प्रभु की तुलना में कम अवधि के लिए मैंने साँस ली। इसने अभ्यास को सरल बनाया; हालाँकि, यह मेरे किसी निर्णय का परिणाम नहीं था। पूरक के अन्त में, मैंने न केवल जालन्धर-बन्ध को, अपितु मूल-बन्ध को भी अपनाया। मैंने अपने स्वप्न में प्रभु के मूल-बन्ध के निष्पादन की पहचान नहीं की थी और इससे अपरिचित था।

{हठयोग-प्रदीपिका में मूल-बन्ध का वर्णन इस प्रकार किया गया है —

पार्ष्णि-भागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते॥

(हठयोग-प्रदीपिका 3.61)

मलद्वार और लिङ्ग के बीच के क्षेत्र को एड़ी से दबाते हुए, गुदा को सिकोड़ना चाहिए और अपान को ऊपर खींचना चाहिए। इसे मूल-बन्ध कहा जाता है।}

(**गुरुजी** -) खड़ी मुद्रा में उड्डीयान-बन्ध का अभ्यास करने से मुझे प्राणायाम के समय इसे करने में आसानी हुई। यद्यपि मेरा पूरक प्रभु के पूरक से अल्पावधि का था, तथापि उनके समान मेरे कुम्भक और रेचक, क्रमशः पूरक से चार गुना और दुगुना की अवधि के थे। सिद्धासन में दो बार प्राणायाम करने के बाद, मैंने पद्मासन में भी ऐसा किया। प्रारम्भ से अन्त तक, मेरी ओर से कोई योजना नहीं बनाई गई और प्रणव का मानसिक जप बिना किसी रुकावट के चलता रहा। पद्मासन में प्राणायाम करने के बाद, मैं लेट गया और सो गया। सूर्योदय से बहुत पहले, मैं बहुत ताज़गी से जाग गया।

स्वप्न और उसके बाद की घटनाएँ मेरे मन में पूर्ण रूप से स्पष्ट थीं। भगवान के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए मेरे पास कोई शब्द नहीं थे, जो कि इतना अनर्ह होने पर भी, मुझे असाधारण रूप से अनुगृहीत किया था, और वह भी, मेरे नए जीवन के पहले दिन पर। मुझे अणुमात्र भी सन्देह नहीं था कि प्रभु सर्वदा मेरी देखभाल करेंगे और मेरा मार्गदर्शन करेंगे। मुझे बस इतना ही करने की आवश्यकता थी कि अहङ्कार को अवकाश न दी जाए। शीतली इत्यादि प्राणायाम के विभिन्न प्रकार का अभ्यास करने में कुछ समय व्यतीत करने के बाद, मैं अपने स्नान आदि के लिए चला गया। मेरे द्वारा रात में या भोर से पहले प्राणायाम किए जाने के बारे में कोई नहीं जानता था।

मैं - क्या गुरुजी के जागने के बाद भी प्रणव का मानसिक जाप अनायास निरन्तर बना रहा?

गुरुजी - नहीं। प्रभु ने अपने आशीर्वाद से प्रणव जप का प्रारम्भ करवाया था और मुझे इस बात की समझ दी थी कि वह जप कितना स्वाभाविक, निर्बाध और आनन्दमय हो सकता है। मुझे लगा कि प्रभु का उद्देश्य यह रहा कि मैं जप का अभ्यास उस सीमा तक करूँ कि वह सहज हो जाए। तदनुसार, मेरे जागने के एक मिनट के अन्दर, मैंने सङ्कल्पपूर्वक मानसिक रूप से प्रणव जाप में संलग्न होना प्रारम्भ कर दिया। भगवान की कृपा से, एक वर्ष के भीतर वैसा जप इतना सहज और अबाधित हो गया जितना कि उस विशेष स्वप्न में था। वह मेरे स्वप्नों में और वार्तालाप के समय भी बना रहा।

मैं - क्या गुरुजी ने उसी दिन परमगुरुजी को इन घटनाओं के बारे में प्रतिवेदन दिया?

गुरुजी - नहीं। उस दिन और अगले कई दिनों में, गुरुजी ने मुझे व्यक्तिगत रूप से अपने आह्निक और अन्य कर्तव्यों से परिचित कराने के लिए समय निकाला। उन्होंने मुझे श्रीविद्या जैसे मन्त्रों का उपदेश भी दिया। मैंने उन्हें अपने अनुभवों का विवरण देकर, उनका अधिक समय लेना अनुचित समझा।

अगली रात मैंने एक स्वप्न देखा जिसमें प्रभु ने अपना शिक्षण बनाए रखा। उन्होंने सबसे पहले केवल-कुम्भक का प्रदर्शन किया। भगवान का श्वास अचानक रुक गया और वे अपनी आँखें बन्द करके कुछ समय तक अचल रहे। मुझे बड़ी शान्ति का अनुभव होने लगा। मुझे लगता है कि इससे पहले के अन्तःश्वसन अथवा निःश्वसन की स्थिति से किसी प्रकार के सम्बन्ध के बिना, मेरी साँस भी रुक गई। धीरे-धीरे, भगवान ने फिर से श्वास लेना प्रारम्भ कर दिया और अपनी आँखें खोल दीं। जैसे ही उन्होंने ऐसा किया, मुझे बोध हुआ कि यह कुम्भक श्रेष्ठ है और वह श्वास निरोध के अभ्यास का फल है जिसके अन्तर्गत पूरक और रेचक हैं।

{महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगसूत्रों में केवल-कुम्भक का वर्णन इस प्रकार किया है —

बाह्याभ्यन्तर-विषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ (योगसूत्र 2.51)

चौथा (केवल-कुम्भक) वह है जो बाह्य और आन्तरिक परिधियों को पार करने पर होता है।

प्राणायाम के अभ्यास का विवरण देने के बाद — जिसमें पूरक की अपेक्षा कुम्भक और रेचक क्रमशः चार गुना और दो गुना होते हैं — योगतत्त्व-उपनिषद् इस प्रकार केवल-कुम्भक को प्रस्तुत करता है और उसकी प्रशंसा करता है —

ततः परं यथेष्टं तु शक्तः स्याद्वायु-धारणे ॥
यथेष्ट-धारणाद्वायोः सिद्ध्येत्केवलकुम्भकः।
केवले कुम्भके सिद्धे रेच-पूर-विवर्जिते ॥
न तस्य दुर्लभं किञ्चित्त्रिषु लोकेषु विद्यते। (योगतत्त्व-उपनिषद् 49-51)

तत्पश्चात्, जितना समय वह चाहे, व्यक्ति अपनी श्वास को रोकने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। श्वास के ऐसे अवरोध पर, केवल-कुम्भक सिद्ध होता है। केवल-कुम्भक को — जो अन्तःश्वसन और निःश्वसन से सम्बन्धित नहीं है — प्राप्त करने पर, उसके लिए तीनों लोकों में कुछ भी प्राप्त करना कठिन नहीं है।}

गुरुजी - फिर, उस रात्रि और अनुवर्ती रात्रियों के स्वप्नों में, प्रभु ने कई योगासन और नौलि इत्यादि कईं क्रियाओं का प्रदर्शन किया। कोई दोहराव नहीं था। उन्होंने आसनों को बहुत ही शीघ्र गति से किया, परन्तु अनुपम लालित्य के साथ और प्रत्येक पग पर अचूक स्पष्टता के साथ किया। कोई भी निपुण मानव इतने समय में उन आसनों में एक चौथाई भाग भी नहीं कर सकता था। भगवान ने किसी भी आसन का नाम नहीं लिया। उन्होंने अगले आसन पर आगे बढ़ने से पहले, मुझे कोई भी आसन करने का निर्देश नहीं दिया। हालाँकि, जब भी उन्होंने किसी आसान का प्रदर्शन किया, तब मुझे स्वतः लगने लगा कि वह आसन केवल मेरी जानकारी के लिए है, या बाद में मेरे अभ्यास के लिए। मात्र उनके अनुग्रह से, आज तक किसी भी आसन के उनके प्रदर्शन का स्पष्ट रूप से स्मरण कर सकता हूँ, जिसे मैं देखना चाहता हूँ।

सातवीं रात को, अपने शिक्षण की समाप्ति के निकट, उन्होंने खेचरी-मुद्रा पर प्रकाश डाला। पद्मासन में बैठकर, उन्होंने अपनी जीभ फैला दी। पल भर में, मुँह के निचले भाग से इसे जोड़ने वाली झिल्ली धीरे-धीरे फटने लगी, जैसे उसे चाकू से काटा जा रहा हो। साथ ही, जीभ पतली और लम्बी हो गई। शीघ्र ही, कुत्ते की जीभ जैसी हो गई। प्रभु ने उसे ऊपर की ओर किया। वह सिर तक पहुँच गई। मैं अपने आप समझ गया कि सामान्य प्रक्रिया में एक लम्बी अवधि तक थोड़ा-थोड़ा करके पटल को काटना, तथा जीभ को हिलाकर व खींचकर लम्बा करना उसके अन्तर्गत है।

अपनी जीभ को पतले लम्बे रूप में बदलने के बाद, भगवान ने भौंहों के बीच अपनी टकटकी रखी। फिर, उन्होंने अपनी जीभ को पीछे की ओर घुमाया और उसे गले के पीछे नाक की ओर जाने वाले विवर में डाला। तत्पश्चात्, प्रभु अचल बने रहे, बिना श्वास लेने के किसी भी प्रत्यक्ष चिह्न के। उस समय, मेरी साँस भी रुक गई। मुझे लगा कि मेरे मुँह के पिछले भाग में कुछ ठंडा और अत्यन्त स्वादिष्ट द्रव उतर रहा है। उसने मुझे बहुत ऊर्जित किया। मुझे ज्ञात हुआ कि यह द्रव भूख, प्यास, दुर्बलता और निरुत्साहता को दूर

करता है। जैसे ही प्रभु ने अपनी जीभ को नीचे किया, मेरा अनुभव भी समाप्त हो गया। अगले ही पल, उनकी जीभ सामान्य हो गई।

{योगकुण्डली जैसी उपनिषदों और हठयोग ग्रन्थों में खेचरी-मुद्रा का वर्णन और प्रशंसा की गई है। हठयोग-प्रदीपिका कहती है —

छेदन-चालन-दोहैः कलां क्रमेणाथ वर्धयेत्तावत्।
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरी-सिद्धिः॥ (हठयोग-प्रदीपिका 3.33)

जीभ को धीरे-धीरे काटकर, हिलाते हुए फैलाकर तब तक लम्बा किया जाना चाहिए जब तक कि वह भौंहों के बीच तक न पहुँच जाए। तब खेचरी सफलतापूर्वक सम्पन्न होती है।

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत्।
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते॥ (हठयोग-प्रदीपिका 3.37)

जीभ को पिछली ओर मोड़कर, तीन नाड़ियों के मार्ग में (अर्थात्, तालु की छत के विवर में) रखना चाहिए। यह खेचरी-मुद्रा है जिसे व्योमचक्र के नाम से भी जाना जाता है।

न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥ (हठयोग-प्रदीपिका 3.39)

जो खेचरी-मुद्रा को जानता है, वह रोग, मृत्यु, सुस्ती, नींद, भूख, प्यास और मन की उदासी से मुक्त रहता है।}

(**गुरुजी** -) अन्त में, परमेश्वर ने मुझे नादानुसन्धान (आन्तरिक ध्वनि पर ध्यान) सिखाया। अपनी उङ्गलियों से उन्होंने अपनी नाक, मुँह और कान बन्द कर लिए। तत्पश्चात्, उन्होंने दाहिने कान में सुनाई देने वाली समुद्र के समान ध्वनि पर ध्यान केन्द्रित किया। मैं समझ गया कि वे ऐसा कर रहे थे क्योंकि बिना मेरे किसी भी प्रयास के, अपने दाहिने कान में उसी प्रकार की ध्वनि पर अपना ध्यान केन्द्रित हो गया था। मुझे ऐसा भी लगा कि अभ्यास से कोई कान बन्द किए बिना भी, इस ध्वनि पर ध्यान केन्द्रित

कर सकता है। शीघ्र ही, मैंने निरन्तर विभिन्न ध्वनियों को सुना। अन्त में, सभी ध्वनियाँ शान्त हो गईं और मैं आनन्द से अभिभूत हो गया। अगले ही क्षण, मेरा अनुभव समाप्त हो गया। मैंने प्रभु को अपने मुख से हाथ हटाते देखा।

प्रभु ने आशीर्वाद की मुद्रा में अपना दाहिना हाथ उठाया; फिर वे खड़े हुए। मैंने तुरन्त उनके चरण-कमलों पर अपना सिर रखकर, उनको प्रणाम किया। जैसे ही मैं उठा, वे स्फटिक लिङ्ग की ओर चल पड़े, जिससे वे प्रकट हुए थे। उस लिङ्ग में उनके अन्तर्धान होने से पहले, प्रकाश की एक चमक थी। उसी क्षण, मेरा स्वप्न समाप्त हो गया। पिछले छह असाधारण स्वप्नों की समाप्ति पर प्रभु ने अपना आसन नहीं छोड़ा था। इसलिए, जब मैं अपने साधारण समय पर जागा, तो मुझे पता था कि स्वप्नों की इस शृङ्खला का यह अन्तिम स्वप्न था।

मैं - भगवान ने कितने आसन सिखाए?

गुरुजी - सैकड़ों। इनमें हठयोग-प्रदीपिका जैसे प्रामाणिक ग्रन्थों में वर्णित सभी आसन सम्मिलित थे, और कई अन्य, जिन्हें मैंने किसी भी पुस्तक में नहीं देखा है। मुझे नहीं लगता कि एक अत्यधिक लचीले शरीर वाला निष्णात व्यक्ति भी बाद के प्रकार के कई आसनों से कुछ से अधिक कर सकता है।

मैं - पहले स्वप्न के बाद, गुरुजी सीधे सिद्धासन और पद्मासन करने में सक्षम हो गए थे और इस प्रकार बैठे हुए, जालन्धर, उड्डीयान और मूल बन्धों के साथ, प्राणायाम कर सकते थे। अन्य आसनों और सभी क्रियाओं को पूरा करने के लिए, क्या अभ्यास की आवश्यकता थी?

गुरुजी - जबकि मैं पहले प्रयास में शीर्षासन जैसे सरल आसन करने में सक्षम था, घेरण्डासन और मुखोत्तानासन जैसे कठिन आसन करने के लिए, प्रयास और अभ्यास की आवश्यकता थी। क्रियाओं में से, भगवान ने मुझे वस्ति नहीं सिखाई और न मैंने उसका अभ्यास किया। फिर भी, मैंने उसके प्रदर्शन को देखा है और जानता हूँ कि उसे कैसे करना है। अन्य

क्रियाओं में निपुणता पाना आसान था। मैंने नियमित रूप से धौति, नेति और नौलि का अभ्यास किया।

{छह क्रियाएँ धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति हैं। ये शरीर को शुद्ध करने का काम करती हैं। उनके अभ्यास का वर्णन हठयोग-प्रदीपिका इस प्रकार करती है —

चतुरङ्गुल-विस्तारं हस्त-पञ्चदशायतम्।
गुरूपदिष्ट-मार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत्।
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत्॥ (हठयोग-प्रदीपिका 2.24)

चार अङ्गुल चौड़ा और पन्द्रह बालिश्त लम्बा वाला एक नरम वस्त्र को, अपने गुरु के उपदेश के अनुसार, धीरे-धीरे निगलना चाहिए। फिर, उस कपड़े को बाहर निकालना चाहिए। यह धौति-क्रिया है।

नाभिदघ्न-जले पायौ न्यस्त-नालोत्कटासनः।
आधाराकुञ्चनं कुर्यात्क्षालनं वस्ति-कर्म तत्॥ (हठयोग-प्रदीपिका 2.26)

गुदा में एक नली डालकर, नाभि तक के जल में उत्कटासन में बैठना चाहिए। फिर, गुदा को सिकोड़ना (और जल को खींचकर निष्कासित करना) चाहिए। ऐसी धुलाई वस्ति-क्रिया है।

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत्।
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते॥ (हठयोग-प्रदीपिका 2.29)

एक नथुने में एक बालिश्त (या अधिक) लम्बा वाला एक चिकना धागा डाला जाना चाहिए और उसे मुँह से बाहर निकालना चाहिए। सिद्ध लोग इसे नेति कहते हैं।

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः।
अश्रु-सम्पात-पर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्॥ (हठयोग-प्रदीपिका 2.31)

एक सूक्ष्म वस्तु पर एकाग्र मन के साथ निरन्तर दृष्टि लगानी चाहिए जब तक आसुँ न निकले। आचार्य इसे त्राटक कहते हैं।

अमन्दावर्त-वेगेन तुण्डं सव्यापसव्यतः।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रशस्यते॥ (हठयोग-प्रदीपिका 2.33)

कन्धों को नीचे करके, एक तेज़ जलावर्त की गति से पेट को बाईं और दाईं ओर घुमाना चाहिए। सिद्धों ने इसे नौलि बताया है।

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ।
कपालभातिर्विख्याता कफ-दोष-विशोषणी॥ (हठयोग-प्रदीपिका 2.35)

लोहार की धौंकनी की भाँति, तेज़ी से वायु को अन्दर खींचना और बाहर निकालना चाहिए। इसे कपालभाति कहा जाता है। यह कफ़-दोष को नष्ट करता है।

1973 में गुरुजी ने धौति क्रिया पर अपनी निपुणता प्राप्त करने के विषय में मुझसे कहा — "मैंने मलमल के कपड़े का एक लम्बा पतला टुकड़ा लिया और उसमें से कुछ निगल लिया। फिर मैंने धीरे से उसे बाहर निकाला। मैंने ऐसा दो या तीन बार किया। अगले दिन, मैंने बहुत अधिक लम्बाई निगल ली। चौथे दिन तक मैं आराम से गले और पेट में जितना कपड़ा चाहता था, उतना डाल सकता था और धीरे-धीरे बाहर निकाल सकता था। मैंने पाया कि इस क्रिया से गले में किसी भी प्रकार के कफ़ को निकालने में सहायता मिलती है।"

नेति के अपने अभ्यास का वर्णन करते हुए, उन्होंने उसी अवसर पर कहा — "एक नरम वस्त्र या धागे को एक नथुने में यथासम्भव धकेलने के लिए, मैंने अपनी तर्जनी का उपयोग किया। दूसरे नथुने को बन्द करते हुए, मैंने झटके में साँस ली और मुँह से साँस छोड़ी। अन्दर की ओर खिंचाव और बाहर से निदेशात्मक दबाव से, धागा नासिका छिद्र में अच्छे से चला गया और मुँह के पिछले भाग तक नीचे आ गया। अभ्यास के प्रारम्भिक चरणों में, मैंने पाया कि धागा थोड़ा सा श्वासनली अथवा भोजन-नली में जाते हुए एक अजीब सनसनी पैदा कर रहा है। परन्तु, मैंने शीघ्र ही इसका एक उपाय सीख लिया।

"अन्दर डाला गया धागा अथवा वस्त्र मेरे गले के पीछे आते ही, मैंने एक ध्वनि के साथ अपना गला स्वच्छ किया। उसी समय, मैंने अपनी तर्जनी और अंगूठे को गले में डाला और धागे को पकड़कर, उसे मुँह से बाहर निकालने के लिए खींच लिया। नाक के ऊतकों को क्षति से बचने के लिए, धीरे-धीरे खींचना चाहिए। इसके बाद, मैंने कपड़े या धागे के दोनों छोरों को आगे-पीछे छोड़ते हुए खींचा और इसे हिलाया। यह भी धीरे-धीरे किया जाना चाहिए। इसके बाद, मैंने नथुने से धागे को बाहर निकाला और दूसरे नथुने से इस पूरी प्रक्रिया को दोहराया। मैंने इस क्रिया को नासिका छिद्रों को बन्द करने वाले कफ़ को निकालने में बहुत उपयोगी पाया।"

नेति की बात करने के बाद, गुरुजी ने दिखाया कि उन्होंने नौलि कैसे की। वे अपने पैरों को अलग करके खड़े हो गए और उन्होंने अपनी जाँघों को अपनी हथेलियों से दबाया। फेफ़ड़ों से वायु को पूर्णतः बाहर निकालने के बाद, उन्होंने अपने पेट को गहराई से अन्दर खींच लिया। फिर उन्होंने अपनी माँसपेशियों को नियन्त्रित किया ताकि उदर क्षेत्र के बीच एक लम्बी ऊर्ध्वाधर नलिका सहित एक गुहा जैसा बनाया जा सके। फिर, उन्होंने उस नलिका को एक पार्श्व से दूसरी ओर घुमाया और मन्थन क्रिया को निष्पादित किया। अन्त में, उन्होंने अपने पेट को उसके सामान्य रूप में वापस लौटाया और कहा, "यह मेरी सबसे चहेती क्रिया हुआ करती थी।"}

मैं - शिव जी द्वारा प्रदर्शित आसनों में से कितने आसनों में गुरुजी का प्रावीण्य सिद्ध हुआ, जिनका उल्लेख ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है?

गुरुजी - छह। द्वार बन्द करो। मैं तुम्हें उनमें से एक दिखाऊँगा और तुम देख सकते हो कि वह कितना कठिन है।

{यह संवाद सच्चिदानन्द-विलास की ऊपर वाले तल्ले में पूर्व से पश्चिम तक फैले बरामदे में हुआ। निर्देशानुसार, मैंने सीढ़ियों की ओर जाने वाला पूर्वी द्वार बन्द किया। जब तक मैं गुरुजी के पास लौटा, तब तक उन्होंने अपना ऊपरी वस्त्र उतार दिया था और चटाई के रूप में उपयोग के लिए, अपनी धोती को धरती पर फैला रहे थे। वे केवल एक गेरुआ कौपीन पहने हुए थे।

मैंने पूर्ण रूप से मन्त्रमुग्ध होकर देखा कि, क्रमशः गुरुजी ने एक अत्यन्त जटिल, उलटी मुद्रा ग्रहण की। उन्होंने स्वयं को इतनी कड़ी गाँठ में बाँधा, जिससे लग रहा था कि उनका शरीर अत्यधिक लोचदार रबर से बना हुआ हो और उसमें कोई हड्डियाँ नहीं हों। लगभग एक मिनट तक के लिए उस आसन में रहने के बाद, गुरुजी ने धीरे-धीरे स्वयं को उस गाँठ से मुक्त कर लिया और अपने निचले और ऊपरी वस्त्र पहन लिए।}

(**गुरुजी** -) पहले दो बार जब मैंने ऐसा करने का प्रयास किया, तो मैं असफल रहा। तीसरी बार, मैं केवल आंशिक रूप से सफल हुआ। अपने अगले प्रयास में, किसी न किसी प्रकार, मैं अन्तिम मुद्रा को अपनाने में सफल हो गया, परन्तु उसमें फँस गया। तब मुझे लगा कि मैं अपने पैरों और हाथों को उस गाँठ से मुक्त नहीं कर पा रहा था जिसमें वे बँधे थे। मैंने प्रभु के उस आसन के प्रदर्शन का स्मरण किया। उन्होंने जो किया था, उसके अनुकरण में, मैंने अपने फेफड़ों को रिक्त किया और अपनी मंझली उङ्गलियों का उपयोग करके, स्वयं को थोड़ा सा छुड़ा लिया। बाकी को सम्भाला गया। पाँचवें प्रयास के बाद, मुझे कोई कठिनाई नहीं हुई।

मैं - मुझे आसन सिखाते समय, गुरुजी ने मुझसे कहा था, "जब मैं छोटा था, तब मैंने काशी स्वामी जी से पूछा कि क्या मैं आप को आसन करते देख सकता हूँ ताकि मैं उन्हें कर सकूँ। उन दिनों, बैरागी शृङ्गेरी में आया करते थे, कुछ समय रुकते थे और चले जाते थे। मैंने उन्हें विभिन्न आसनों का अभ्यास करते देखा। मुझमें कुतूहल जगी और मैं ध्यान से देखा करता था कि उन्होंने उनका प्रदर्शन कैसे किया। मेरा शरीर लचीला था और इसलिए, मुझे उन आसनों और क्रियाओं में प्रवीणता प्राप्त करने में कठिनाई नहीं हुई, जिन्हें मैंने काशी स्वामी जी और बैरागियों को करते देखा था। इसके अतिरिक्त, मुझे उन्हें करने में बहुत आनन्द आया और इसलिए सीखने की प्रक्रिया में तेज़ी आई। जब कभी मुझे यह सुनिश्चित करने की आवश्यकता हुई कि मैं जो कर रहा था वह सही था, तब उसके बारे में पूछकर स्पष्टीकरण प्राप्त करता था।"

अब मेरे लिए यह स्पष्ट है कि भगवान ने गुरुजी को सिखाया था। तथापि, गुरुजी ने काशी स्वामी जी और बैरागीयों को करते हुए देखकर अभ्यास प्रारम्भ किया था। मेरे लिए यह स्पष्ट नहीं है कि उस पहले के कथन के साथ, इस समझ को कैसे समेटा जाए।

गुरुजी - ऐसा कोई आसन या क्रिया नहीं है जो मैंने कभी की हो जिसे शिव जी ने मुझे स्वप्न में नहीं दिखाया। तथापि, यह भी एक तथ्य है कि मैंने उनमें से कईं आसनों और क्रियाओं का अभ्यास केवल उन्हें काशी स्वामी जी और बैरागियों से, एक प्रकार से, सीखने के बाद ही किया। इसके अतिरिक्त, मुझे काशी स्वामी जी और बैरागियों से, एवं बाद में ग्रन्थों से, आसनों के नाम पता चले।

{काशी स्वामी जी के साथ 1980 के दशक में जब मैंने वार्तालाप की, तब उन्होंने कहा था कि युवा गुरुजी ने उनसे सम्पर्क किया था और उन्हें उड्डीयान-बन्ध और गोरक्ष जैसे आसन करते हुए देखा था। गुरुजी ने उनकी उपस्थिति में आसन नहीं किए। धौति जैसी क्रियाओं के बारे में, स्वामी जी ने कहा कि उन्होंने उनका अभ्यास नहीं किया। सम्भवतः, गुरुजी ने जिन क्रियाओं का उल्लेख किया था, वे केवल बैरागियों ने ही की थीं।}

मैं - गुरुजी द्वारा आसन और क्रियाओं को तब तक के लिए स्थगित करने का क्या कारण था, जब तक कि उनमें से अनेक आसनों को मनुष्यों से प्रतीयमानतः नहीं सीखा था?

गुरुजी - मुझे लगा कि भगवान चाहते थे कि मैं यही करूँ। इस कारण, मठ के कर्मचारियों और अन्य लोगों को आश्चर्य चकित होने का कोई अवसर नहीं था कि सिखाए बिना ही, मैं हठयोग का अभ्यास करने में अचानक समर्थ कैसे हो गया। प्राणायाम और बन्धों को तो, प्रारम्भ में, मैं रात के लगभग तीन बजे गुप्त रूप से किया करता था और फिर सोने चला जाता था। बाद में, कुछ समय के लिए, मैं उन्हें एकान्त में अपने आह्निक के समय किया करता था। मैंने उनके गुप्त अभ्यास को तभी छोड़ा जब अनुमानतः दूसरों से सीखा था। जहाँ तक नादानुसन्धान का प्रश्न है, मैंने इसे सप्ताह में

एक बार अपने आह्निक के साथ किया। मुझे विश्वास है कि जैसा ईश्वर का अभिप्राय था, मैंने वही किया जैसे कि मैंने प्रथम स्वप्न के बाद बन्धों के साथ प्राणायाम करना प्रारम्भ किया था और सातवें स्वप्न के बाद नादानुसन्धान।

मैं - क्या कोई ऐसे आसन और मुद्राएँ थे जिनका वर्णन हठयोग ग्रन्थों में हैं, जो भगवान ने गुरुजी को नहीं सिखाए थे?

गुरुजी - जहाँ तक मैं जानता हूँ, उन्होंने कोई आसन नहीं छोड़ा। तथापि, शिव जी ने वज्रोली जैसी मुद्राओं को छोड़ दिया। मैंने उनका अभ्यास कभी नहीं किया।

{जिस प्रकार हठयोग-प्रदीपिका में वर्णित है, वज्रोली का अभ्यास धीरे-धीरे लिङ्ग में एक नलिका डालने से आरम्भ होता है। धमन मारकर मार्ग स्वच्छ करके, व्यक्ति इसके माध्यम से जल खींचना सीखता है। लिङ्ग से स्खलित वीर्य को वापस लिङ्ग में खींचने में सक्षम होना इसका एक उद्देश्य है।}

मैं - प्रतिदिन गुरुजी ने कितने आसन किए और बन्धो के साथ प्राणायाम के कितने चक्र किए?

गुरुजी - आसनों की सङ्ख्या में बदलाव होता था। संन्यास के कुछ वर्षों के भीतर, मैंने आसनों और क्रियाओं के लिए आधा घंटा और प्राणायाम के लिए आधा घंटा पूर्णतः समर्पित करना प्रारम्भ कर दिया। मैंने कुछ आसन, जैसे कि शीर्षासन, सर्वांगासन, मत्स्यासन, पश्चिमोत्तानासन और अर्ध-मत्स्येन्द्रासन, और क्रियाएँ जैसी नौलि — हर दिन किए। इनके अतिरिक्त, मैंने उपलब्ध समय के अन्दर, यथासम्भव अपने आसनों के सङ्ग्रह से अन्य आसन किए। मैंने पाँच मिनट के शवासन के साथ समापन किया। मेरे द्वारा अभ्यास किए गए सभी आसनों का एक चक्र पूरा करने के लिए, मुझे एक सप्ताह लगता था।

शवासन के बाद, मैंने तीनों बन्धो सहित प्राणायाम किया। मैंने क्रमशः 16, 64 और 32 सेकंड तक रहने वाले पूरक, कुम्भक और रेचक के साथ 16 चक्र, अथवा 32, 128 और 64 सेकंड तक चलने वाले आठ चक्र पूरे किए।

प्रत्येक सप्ताह में, मैंने कुछ समय के लिए शीतली जैसे प्राणायाम के प्रभेदों को भी सम्मिलित किया। प्राणायाम के बाद, मैंने अपने प्रातःस्नान के लिए जाने से पहले, सहनशीलता और शक्ति बढ़ाने वाले व्यायामों पर 15 मिनट बिताए।

मैं - क्या गुरुजी प्रारम्भ से ही दो मिनट से अधिक समय तक कुम्भक के साथ प्राणायाम करते थे?

गुरुजी - नहीं। दो सप्ताह की अवधि में, मैंने कुम्भक की अवधि को लगभग एक मिनट से बढ़ाकर दो मिनट कर दिया। एक महीने के अभ्यास के भीतर, मैं अपनी श्वास को पाँच मिनट तक आराम से रोक सकता था। परन्तु, इतने लम्बे समय तक कुम्भक के साथ नियमित रूप से प्राणायाम करने का विचार मुझे अभीष्ट नहीं था, क्योंकि ऐसा करने पर, मैं अपने निर्धारित आधे घंटे के भीतर चार चक्र भी नहीं कर पाता था। यद्यपि कई वर्ष हो गए हैं जब मैंने यूँ ही पाँच मिनट तक अपनी साँस रोक रखी थी, परन्तु अभी मैं तुम्हें उसे प्रदर्शित करूँगा।

{एक विचार मेरे मन में आया कि इतने लम्बे समय तक श्वास को बनाए रखते समय, क्या गुरुजी अपने शरीर की चयापचय प्रक्रिया और नाड़ी स्पन्द की गति को धीमी कर देंगे। गुरुजी ने तुरन्त हँसते हुए कहा, "तुम मेरी नाड़ी स्पन्द को अभी और अन्तिम मिनट में नोट कर सकते हो।" मैंने उनकी नाड़ी की स्पंद दर मापी और पाया कि वह 67 विस्पंद प्रति मिनट है। फिर, गुरुजी ने अपने फेफ़ड़ों को पूर्णतः रिक्त कर दिया, अपने नथुने बन्द कर दिए और जालन्धर-बन्ध किया। उनकी आँखें खुली थीं और उनके मुखमण्डल पर मन्दहास था। चौथे मिनट के अन्त में, मैंने उनकी नाड़ी स्पंद दर मापनी प्रारम्भ की और इसी प्रकार पाँचवें मिनट के अन्त तक करता रहा। उनकी नाड़ी स्पंद दर केवल 29 विस्पंद प्रति मिनट थी। जैसे ही मैंने गुरुजी की कलाई से अपना हाथ हटा लिया — जिसे उन्होंने मेरे माप को आसान बनाने के लिए पकड़ रखा था — उन्होंने अपने नथुनों पर दबाव ढीला किया और अबाध गति से दो बार गहरी साँसे लीं।}

मैं - पूरक, कुम्भक और रेचक की सापेक्ष अवधि के लिए मानक 1:4:2 अनुपात को 1:2:2 के अनुपात में कब परिवर्तन किया, जिसका अनुमोदन गुरुजी अब करते हैं?

गुरुजी - कालडी से गुरुजी के लौटने के बाद (1939 के प्रारम्भ में) यह परिवर्तन हुआ था। उनके द्वारा यह नया अनुपात सुझाया गया था। मैंने उनके सङ्केत को एक पवित्र निर्देश माना और उसे लागू किया।

मैं - जिस प्रकार की स्वप्न शृङ्खला के बारे में गुरुजी ने अभी-अभी बताया, क्या उस प्रकार की और स्वप्न शृङ्खलाएँ हैं जिनमें भगवान ने योग के बारे में गहराई से गुरुजी को सिखाया था?

गुरुजी - कोई शृङ्खला नहीं, अपितु कुछ महीनों के बाद केवल एक स्वप्न था। मैं किसी दिन तुम्हें उसके विषय में बताऊँगा।

{इसके बाद, गुरुजी अपने अपराह्न स्नान और आह्निक के लिए गए। बाद में उन्होंने स्वप्नों में मिलने वाले मार्गदर्शन और निर्देशों के बारे में निम्नोक्त विश्लेषण दिया —

इतना तो निश्चित है कि स्वप्न में जो देखा जाता है, वह सब झूठ होता है।

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति।
(बृहदारण्यक-उपनिषद् 4.3.10)

वहाँ कोई रथ, घोड़े या रास्ते नहीं हैं।

मायमात्रं तु कात्स्न्र्येनानभिव्यक्त-स्वरूपत्वात्॥ (ब्रहसूत्र 3.2.3)

किन्तु, स्वप्न की सृष्टि केवल माया है क्योंकि उसमें समग्रता से विशेषताओं को (जो जाग्रदवस्था के पर्याप्त स्थान, समय और परिस्थितियों के समान, निरस्त नहीं होते हैं) अभिव्यक्त करने का स्वभाव नहीं है।

फिर भी, स्वप्न का अनुभव असाधारण ढंग से आध्यात्मिक साधना का एक आधार बन सकता है। योगशास्त्र में कहा गया है —

स्वप्न-निद्रा-ज्ञानालम्बनं वा॥ (योगसूत्र 1.38)

वैकल्पिक रूप से, स्वप्न अथवा निद्रा में देखी गई वस्तु को एकाग्रता का आलम्बन बनाकर, चित्त स्थिरता की स्थिति में पहुँचता है।

इसकी व्याख्या करते हुए, वाचस्पति ने (अपनी तत्त्व-वैशारदी टीका में) कहा है कि कोई अपने स्वप्न में एक जंगल में शिव जी की एक अच्छे प्रकार से सजाई गई मनोज्ञ मूर्ति देख सकता है। जागने के बाद, वह व्यक्ति उस छवि का स्मरण कर सकता है और उस पर ध्यान लगा सकता है।

विरले ही किसी व्यक्ति का कोई स्वप्न होता है जिसमें वह ईश्वर या गुरु से किसी मन्त्र की दीक्षा प्राप्त करता हो। महाभारत [द्रोण-पर्व के अध्याय 80 और 81] में, एक स्वप्न का वर्णन है जिसमें अर्जुन को शिव जी से एक आदेश मिला। अगले दिन सूर्यास्त तक जयद्रथ का वध करने की शपथ लेने के बाद, अर्जुन चिन्तित था कि वह सफलता कैसे प्राप्त कर सकता है। जब वह सो गया, तो उसने एक स्वप्न देखा, जिसमें कृष्ण उसके पास आए और उसे आकाश मार्ग से कैलास पर्वत के शिखर पर ले गए। वहाँ, उन्होंने शिव जी के दर्शन किए और उनकी स्तुति की। अर्जुन की प्रार्थना के प्रत्युत्तर में, प्रभु ने उन्हें एक दिव्य जलाशय से अपना पिनाक धनुष और पाशुपत अस्त्र को लाने का निर्देश दिया। आदेशानुसार जब उन्होंने ऐसा किया, तो शिव जी के पार्श्व से एक ब्रह्मचारी उभरा और उसने अर्जुन को पाशुपत अस्त्र का प्रयोग करना सिखाया। प्रभु ने अर्जुन को अस्त्र के आवाहन के लिए आवश्यक मन्त्र भी सिखाया। शिव जी से बहुत पहले प्राप्त किए गए पाशुपत के उपयोग के विषय में सभी निर्देश अर्जुन की स्मृति में आ गए। जागने पर, वह आवश्यकता होने पर, मन्त्रों से आवाहन करने और अप्रतिरोध रूप से पाशुपत को नियोजित करने में सक्षम था।

जिस स्वप्न में कोई अपने गुरु या भगवान को देखता है, वह अच्छा है; उस स्वप्न को दैवीय अनुग्रह के सङ्केत के रूप में देखा जा सकता है। परन्तु, किसी को अन्धाधुंध रूप से यह नहीं मानना चाहिए कि स्वप्न में जो भी निर्देश प्राप्त हुआ है, वह वास्तव में गुरु या ईश्वर का निर्देश है, और आँख बन्द करके इसका पालन नहीं करना चाहिए। उदाहरण के लिए, दूसरे को

क्षति पहुँचाना एक व्यक्ति के लिए घोर अपराध होगा, भले ही वह एक स्वप्न देखा हो जिसमें ऐसा करने का आदेश उसे मिला हो। किसी को भी अपने धर्म के विपरीत काम नहीं करना चाहिए और न ही किसी ऐसे उपदेश को महत्त्व देना चाहिए जो शास्त्र एवं अपने सद्गुरु के यथार्थ विचार के साथ असङ्गत हो।

दुर्लभ वे स्वप्न होते हैं, जिनमें व्यक्ति भगवान या सद्गुरु के निर्देशों से वास्तव में अनुगृहीत होता है। हो सकता है कि इस प्रकार के एक स्वप्न के बारे में सुनने वाला एक संशयवादी नास्तिक व्यक्ति, इसे काल्पनिक कह कर अस्वीकार कर देगा, अथवा इसे किसी दूसरे प्रकार से समझाने का प्रयास करेगा, जैसे कि स्पष्ट रूप से प्राप्त की गई नई जानकारी वास्तव में अनजाने में पहले प्राप्त ज्ञान पर आधारित है। तथापि, ऐसे स्वप्नों का असाधारण स्वभाव और उनकी उपयुक्तता एवं उनके माध्यम से प्राप्त होने वाले मार्गदर्शन का महत्त्व, सामान्यतः, उस व्यक्ति के लिए अचूक हैं, जिसने उन्हें प्राप्त किया है।}

5. भक्ति एवं कर्म-योग

[*निम्नलिखित संवाद 1987 अक्तूबर में बेंगलूरु के शृङ्गेरी शङ्कर मठ में हुआ। जब मैं गुरुजी के प्रातःकालीन आह्निक के समय उन्हें नमस्कार करने गया था, तो मैंने उन्हें आनन्द के आँसू पोंछते देखा।*]

गुरुजी - मैंने बस अभी नरसिंह-मन्त्र का जप पूरा किया है। अचानक ही मुझे स्मरण आया कि जब गुरुजी ने मुझे संन्यास देने के बाद नरसिंह-मन्त्र की दीक्षा दी थी, तब क्या हुआ था,। उस स्मृति के कारण ही मेरी आँखों में ये आनन्द के अश्रु आ गए। दीक्षा के समय, जब गुरुजी ध्यानश्लोक का उच्चारण आरम्भ करने ही वाले थे, मैंने अपने आप को अपने हृदय में स्वाभाविक रूप से नरसिंह जी की कल्पना करते हुए पाया। जैसे ही मैंने ध्यान-श्लोक को सुना एवं दोहराया, मुझे आश्चर्य और आनन्द के साथ पता चला कि मन्त्र में वर्णित भगवान नरसिंह के रूप से मेरे मन में उभरी छवि मेल खाती थी।

{वह ध्यान-श्लोक इस प्रकार है —

सत्यज्ञान-सुखस्वरूपममलं क्षीराब्धि-मध्यस्थितं
योगारूढमतिप्रसन्न-वदनं भूषा-सहस्रोज्ज्वलम्।
त्र्यक्षं चक्र-पिनाक-साभय-वरान्बिभ्राणमर्कच्छविं
छत्रीभूत-फणीन्द्रमिन्दुधवलं लक्ष्मीनृसिंहं भजे॥

मैं उन लक्ष्मी-नृसिंह की पूजा करता हूँ जिनका मूलभूत स्वरूप परम सत्, ज्ञान और आनन्द है, जो निर्मल हैं, जो योग में स्थित हैं, जिनका मुख अत्यन्त मनभावन है, जो अनेक आभूषणों से उज्ज्वल हैं, जिनके तीन नेत्र हैं, जो (अपने चार हाथों में) सुदर्शन (चक्र), पिनाक (धनुष), व अभय और वरदान की मुद्राएँ धारण किए हुए हैं, जो सूर्य के समान तेजस्वी हैं, जो चन्द्रमा के समान गोरा हैं, जिनके ऊपर छत्र बनकर (शेषनाग) नागराज (के फणों का समूह) हैं, और जो क्षीरसागर के बीच स्थित हैं।

1976 में एक दिन अपनी सन्ध्याकालीन सैर के समय, गुरुजी ने यों ही इस पद्य को सुनाया और फिर मुझसे कहा, "ईश्वर, जो कि निराकार हैं और परम

सत्, ज्ञान और आनन्द (सच्चिदानन्द) स्वरूपी हैं, अपने भक्तों के लिए शिव, विष्णु, अम्बा आदि के रूप में प्रकट होते हैं। इस ध्यानश्लोक में वर्णित नरसिंह का रूप स्वयं ही शिव व विष्णु के वास्तविक अभेद की ओर इङ्गित करता है। यह सर्वविदित है कि नरसिंह विष्णु के अवतार हैं। यहाँ उन्हें विष्णु के समान — उनकी पत्नी लक्ष्मी के साथ होने वाले, उनके आयुध चक्र को धारण करने वाले और छत्र के रूप में शेष के फण होने वाले — वर्णित किया गया है। इसके अतिरिक्त, उन्हें क्षीरसागर में स्थित कहा गया है। यह भी विष्णु से मेल खाता है। हालाँकि, नरसिंह को यहाँ शिव के समान तीन नेत्रों वाला कहा गया है। वे शिव का धनुष पिनाक धारण करते हैं। और तो और, शिव जैसे और विष्णु के विपरीत, उनको बहुत गोरा वर्णित किया गया है।"}

(**गुरुजी** -) गुरुजी को (ध्यानश्लोक के पश्चात्) पञ्चोपचार-पूजा के शब्दों को उच्चारण करने व मुझे उन्हें दोहराने में केवल कुछ सेकंड लगे। तथापि, मैंने अपने हृदय में चन्दन के लेप, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि से भगवान की विस्तृत रूप से मानसिक-पूजा करने में समय की कमी अनुभव नहीं की। भगवान की पूजा करने की उत्कट प्रेरणा का श्रेय मैं केवल ईश्वरीय कृपा को ही दे सकता हूँ। नैवेद्य के समय, मैंने एक रत्नमण्डित स्वर्ण थाली में प्रभु को कई प्रकार के व्यञ्जन परोसे, एक कौर भोजन उनके मुँह में रखा, उनके चबाने और निगलने की प्रतीक्षा की और उसके बाद ही, और एक कौर खिलाया। यह ऐसा था मानो मेरे दृष्टिकोण से, कई सेकंड चमत्कारिक रूप से आधे घंटे से अधिक बढ़ा दिए गए थे। यहाँ तक कि एकाग्रचित्त और समर्पण के साथ पूजा करते हुए भी, मैं बिना विलम्ब किए गुरुजी को देखने और उनके शब्दों को दोहराने में सक्षम था।

{पञ्चोपचार पूजा के शब्द इस प्रकार हैं —

लं - पृथिव्यात्मने गन्धं कल्पयामि।
हं - आकाशात्मने पुष्पं कल्पयामि।
यं - वाय्वात्मने धूपमाघ्रापयामि।

रं - अग्न्यात्मने दीपं दर्शयामि।
वं - अमृतात्मने अमृतोपहारं निवेदयामि।
सं - सर्वात्मने सर्वोपचारपूजास्समर्पयामि।

लं *(पृथिवी का बीज)! जो पृथिवी के सार हैं, उन्हें मैं चन्दन का लेप देता हूँ।*

हं *(आकाश का बीज)! जो आकाश के सार हैं, उन्हें मैं फूल चढ़ाता हूँ।*

यं *(वायु का बीज)! जो वायु के सार हैं, उन्हें मैं धूप की सुगन्ध अर्पित करता हूँ।*

रं *(अग्नि का बीज)! जो अग्नि के सार हैं, उन्हें मैं दीपक दिखाता हूँ।*

वं *(जल का बीज)! जो अमृत के सार हैं, उन्हें मैं दिव्य भोजन अर्पित करता हूँ।*

सं *(जगत् का बीज)! जो सब के सार हैं, उनकी मैं सभी पूजन वस्तुओं के साथ पूजा करता हूँ।*}

(**गुरुजी** -) जब गुरुजी ने (पञ्चोपचार-पूजा के बाद) नरसिंह-मन्त्र का उच्चारण करना प्रारम्भ किया, तब अपनी दाहिनी हथेली मेरे सिर पर रख दी। जब उन्होंने मुझे 'मेधा-दक्षिणीमूर्ति' और 'श्रीविद्या' जैसे अन्य मन्त्रों में दीक्षित किया, तब उन्होंने ऐसा नहीं किया।

{नरसिंह का मन्त्रराज यह है —

उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्।
नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्॥

जो उग्र, वीर, महान जो सभी में व्याप्त हैं (महाविष्णु), चमकदार एवं सर्वत्र मुखों वाला, भयानक, मङ्गलमय तथा मृत्यु के नाशक हैं — मैं उन नृसिंह को नमन करता हूँ।

1976 में एक बार गुरुजी ने मुझसे कहा था, "इस मन्त्र का एक-एक शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। मैं इसका संक्षेप उदाहरण तीन शब्दों को लेकर दूँगा। भगवान का वर्णन करने वाला एक शब्द है '**ज्वलन्तम्**'। इसका एक सरल सामान्य अर्थ है कि नरसिंह उज्ज्वल हैं। चैतन्य प्रकाशों का भी प्रकाश है; पर

इसके बिना, सूर्य या दीपक जैसा कोई ज्योतिष्क नहीं दिखाई देगा। नरसिंह सदैव चैतन्य के प्रकाश के रूप में प्रकाशमान हैं। यह एक गहरा अर्थ है।

"मन्त्र का एक अन्य पद है '**सर्वतोमुखः**'। इसका शाब्दिक अर्थ है कि हर दिशा में उनके मुख हैं। उपनिषद् सिखाते हैं कि बिना किसी इन्द्रियों के होने पर भी, परमात्मा सर्वत्र सब कुछ ग्रहण करते हैं। इस अर्थ में नरसिंह '**सर्वतोमुखः**' हैं।

"मन्त्र भगवान को '**भीषणः**' बताता है। इसका शाब्दिक अर्थ है 'भयानक'। भागवत-पुराण बताता है कि जब नरसिंह ने हिरण्यकशिपु का संहार किया और उसके बाद भी भयङ्कर बने रहे, तब देवता, और यहाँ तक कि लक्ष्मी जी, उनसे भयभीत थे। यह शब्द भगवान पर एक अन्य प्रकार से भी बैठता है। परमेश्वर ब्रह्माण्ड में व्यवस्था का आदेश देते हैं व उसे लागू करते हैं। प्रकृति के नियम उनके हैं। कहा जाता है, 'इनके भय से ही वायु बहती है। इन्हीं के भय से सूर्य उदित होता है (*तैत्तिरीय उपनिषद्* 2.8)'। इस अर्थ में नरसिंह '**भीषणः**' हैं। नृसिंह-पूर्वतापनीय-उपनिषद् एवं नृसिंह-उत्तरतापनीय-उपनिषद् इस मन्त्र के बारे में विस्तार से बताते हैं।"}

(**गुरुजी** -) जिस क्षण गुरुजी ने इस मन्त्र का एक बार उच्चार किया और उनका अनुसरण करते हुए मैंने भी वैसा ही किया, तब एक अद्भुत घटना घटी। गुरुजी ने अचानक ही मेरे सिर से अपना हाथ हटा लिया और अपनी हथेलियों को जोड़ लिया; फिर उन्होंने अत्यन्त पूज्यभाव से चुपचाप मेरी ओर देखा। मेरी साँस रुक गई। लक्ष्मी-नरसिंह का जो रूप मैं अपने भीतर देख रहा था, वह लुप्त हो गया। फिर भी, मुझे भगवान का अन्तर्यामी (आन्तरिक नियामक), शरण और अन्तरङ्ग हितचिन्तक के रूप में स्पष्टता से अनुभव होने लगा, जैसे कि कोई अपनी खुली हथेली में एक फल देख सकता है। मैंने शरीर, प्राण, इन्द्रियों, मन व बुद्धि को अपना मानना बन्द कर दिया; सब कुछ बस उन्हीं का था। मैं नहीं जानता कि मैं कितने समय तक उस अवस्था में अचल एवं आनन्द में डूबा रहा। पूरे समय, मैंने गुरुजी को अपनी हथेलियाँ जोड़कर मेरी दिशा में देखते हुए देखा।

तत्पश्चात्, नरसिंह का रूप पुनः प्रकट हुआ व मेरा श्वसन फिर से प्रारम्भ हो गया। मन्त्र जाप के समय, मेरी मानसिक स्थिति पहले जैसी हो गई पर इस अन्तर के साथ कि अब मैं नरसिंह के साथ अत्यन्त अन्तरङ्ग अनुभव कर रहा था। ठीक उसी समय, गुरुजी ने अपने हाथ नीचे कर लिए। उन्होंने पुनः मुझे उनके शब्दों को दोहराने का समय देते हुए, मन्त्र का और दो बार उच्चारण किया। दीक्षा पूरी करने के पश्चात्, उन्होंने कहा, "जब आपने मन्त्र का उच्चार एक बार कर लिया, मैंने आपके स्थान पर केवल नरसिंह को देखा। यही कारण है कि मैंने अपना हाथ आपके सिर पर से हटा लिया और उन्हें प्रणाम किया। जब उनका रूप अन्तर्धान हुआ और आप पुनः प्रकट हुए, तो मैं दीक्षा के साथ आगे बढ़ा। सब कुछ उन्हें समर्पित कीजिए।" यही सब कुछ समय पहले मेरे मन में आया था।

{गुरुजी ने बोलना बन्द कर दिया और अपने आह्निक बनाए रखा। मैंने उनके समक्ष तीन बार दण्डवत् प्रणाम किया। चूँकि मैं गुरुजी को कष्ट देना व उनका और समय लेना नहीं चाहता था, इसलिए मैंने उनसे इन अनुभवों के अल्पकालिक और दीर्घकालिक प्रभावों के बारे में नहीं पूछा। जैसे ही मैं उठकर जाने लगा, वे स्मितवदन हुए और स्वयं उत्तर दिए।}

(**गुरुजी** -) उस दिन भर, नरसिंह को सब कुछ समर्पित करना बहुत ही सरल था। उदाहरणार्थ, जब मैंने अपना अपराह्न का स्नान किया, तो मुझे अपने आप से लगा कि मैं अपने भीतर स्थित नरसिंह का अभिषेक कर रहा हूँ। भिक्षा के समय, मैंने जो कुछ भी अपने मुँह में डाला, उसे अपने भीतर से उन्हें स्वीकार करने और खाने के रूप में सीधा चित्रित किया। भिक्षा के पश्चात् जब मैंने पुस्तक पढ़ी, तो ऐसा लगा कि वे मेरे हृदय के भीतर स्थित सुन रहे हैं और मैं उन्हें पढ़कर सुना रहा हूँ। जब मैं चल रहा था, तो मुझे ऐसा लगा कि मेरे भीतर स्थित उन्हें टहलने के लिए मैं ले जा रहा हूँ। परन्तु, अगले दिन से मुझे उन्हें अपनी सब क्रियाओं व फलों को समर्पित करने के लिए बुद्धिपूर्वक अभ्यास करने की आवश्यकता थी। मैंने प्रतिदिन कुछ समय उनकी मानसिक आराधना करने के लिए ही व्यतीत करना भी प्रारम्भ किया। दीक्षा दिवस के अनुभवों ने, इन दोनों को बहुत सुकर और आदर्श बनाया। कुछ ही महीनों

में, कर्म-योग स्वभाविक हो गया। दीक्षा के समय से, नरसिंह मुझे बहुत प्रिय हो गए। जैसा कि मैंने तुम्हें कई अवसरों पर बताया है, वे मेरा एक बच्चे जैसा ध्यान रखते हैं, मेरा मार्गदर्शन करते हैं, स्पष्टीकरण देते हैं और जो कुछ भी मैं मूर्खतापूर्ण कहता और करता हूँ, वे उन सभी को ठीक कर देते हैं।

मेरे संन्यास से पहले, गुरुजी ने भगवत्पाद जी और पद्मपाद जी के जीवन में नरसिंह की कृपापूर्ण भूमिका तथा मेरे परमेष्ठिगुरु (परमपूज्य श्री नृसिंह भारती महास्वामी जी) और मेरे परमगुरु (परमपूज्य श्री सच्चिदानन्द शिवाभिनव नृसिंह भारती महास्वामी जी) के नरसिंह के प्रति भक्तिभाव के बारे में बताया था। उन्होंने मुझे नरसिंह पर कुछ स्तोत्र — जैसे कि भगवत्पाद जी का "लक्ष्मी-नरसिंह-करुणा-रस-स्तोत्र" — कण्ठस्थ करने का भी निर्देश दिया था। संन्यास के बाद, जैसा कि मैंने अभी तुम्हें बताया, उन्होंने असाधारण ढंग से मुझे नरसिंह-मन्त्र में दीक्षित किया, और मुझे नरसिंह-कवच प्रदान किया। नरसिंह के साथ मेरी इतनी निकटता के लिए, मैं उन्हीं का आभारी हूँ।

{1977 में जब मैंने गुरुजी को एक पाण्डुलिपि प्रस्तुत की, उन्होंने उसे यादृच्छिक रूप से खोला और निम्नलिखित पद्य पढ़ा, जो कि भर्तृहरि के वैराग्य-शतक से है —

महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि।
न वस्तुभेद-प्रतिपत्तिरस्ति मे तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे॥

(भर्तृहरि का वैराग्य शतक 84)

मुझे ब्रह्माण्ड के स्वामी महेश्वर (शङ्कर) और ब्रह्माण्ड की अन्तरात्मा जनार्दन (विष्णु) के बीच अन्तर की कोई अवधारणा नहीं है। तथापि, मेरा लगाव उनसे (शिव जी से) है, जो अपने मस्तक पर बाल चन्द्रमा को धारण करते हैं।

उसके पश्चात्, गुरुजी ने यह कहते हुए बताया कि शिव जी परमगुरुजी के इष्ट-देवता थे, "यह पद्य मेरे गुरु पर लागू होता है। नरसिंह के प्रति मेरे प्रेम के कारण, कभी-कभी हास्यकर ढंग से वे मुझसे कहा करते थे, 'आप एक वैष्णव हैं'।"}

अनुबन्ध

[*निम्नलिखित लेखांश गुरुजी द्वारा नीतिकथाओं के माध्यम से कर्म-योग समझाने की व्याख्या है। इसे मैंने अंग्रेज़ी में लिखकर 'Edifying Parables' नामक पुस्तक में सम्मिलित किया है।*]

तीन भाई छुट्टियों में एक पहाड़ी प्रदेश गए और एक घर में रुके, जिसे उन्होंने अपने लिए पंजीकृत किया था। एक रात जब वे गहरी नींद में थे, एक प्रचण्ड भूकम्प ने उस क्षेत्र में विध्वंस मचा दिया। उस घर की छत गिर गई और वे तीनों मर ही जाते, यदि छत की तुला दण्ड का एक भाग कमरे के फर्नीचर पर आकर न अटकता। उस चरचराने की ध्वनि सुनकर भाईयों को लगा कि छत उनपर कुछ पल में गिरने ही वाली है। सहायता के आने तक उनके अपने स्थान पर बने रहने का प्रश्न ही नहीं था।

वे कक्ष के बाहर जाने वाले दो द्वारों की ओर मुड़े। बिजली के शॉर्ट सर्किट के कारण उनमें से एक के पास आग लग गई थी। आग की लपटें फैल रही थीं। खिड़कियों से टूटे शीशे के टुकड़े दूसरे द्वार की ओर जाने के मार्ग पर बिखरे हुए थे। एक भाई आग वाले द्वार की ओर भागा। वह बाहर भागने में सफल तो रहा, पर आग के कारण अत्यधिक जल गया और कई सप्ताह तक अस्पताल में भर्ती रहा। दूसरे भाई ने आग के मार्ग से जाने के सङ्कट को देख लिया, अतः वह शीशे के बिखरे टुकड़ों वाले मार्ग से यथासम्भव शीघ्रता से निकल गया। मार्ग में पड़े शीशे के टुकड़े उसके पैरों में चुभ गए थे। उसे दो दिन तक अस्पताल में भर्ती रहना पड़ा।

तीसरे भाई ने सोचा, "यहाँ रहना तो मूर्खता होगी। आग वाले द्वार की ओर जाना तो मूर्खता है क्योंकि उससे अपरिहार्य रूप से जलन के घाव आएँगे। अतः मुझे दूसरे द्वार से ही निकलना चाहिए। परन्तु, मुझे अपने पैर बचाने के लिए कुछ तो करना ही होगा। उसने शय्या की चादर को चीरकर एक-एक भाग को अपने एक-एक पैर पर बाँध लिया। उसने शीघ्रता से काम किया; अतः यह पूरी प्रक्रिया कुछ क्षणों में पूर्ण हो गई। तत्पश्चात्, वह अपने चुने हुए द्वार की ओर चला। वह सकुशल वहाँ से निकलने में सफल रहा।

कोई भी व्यक्ति बिना कुछ किए रह नहीं सकता, जैसे कि वे भाई अपने कक्ष में ही बने रहने की स्थिति में नहीं थे, जहाँ वे लेटे थे। मनुष्य के सभी कर्मों का परिणाम होता ही है। यदि वह अधर्म में संलग्न होता है, तो भविष्य में अत्यन्त पीड़ा सहनी होगी, चाहे वह नरक में हो या धरती पर। उसका आचरण आग वाले द्वार की ओर भागने वाले उस भाई के समान होगा। जो अच्छे कर्म करता है, वह कुछ समय के लिए आनन्द की अनुभूति करता है, या तो स्वर्ग पाकर या धरती पर एक अच्छा जन्म पाकर। परन्तु, किसी भी स्थिति में उसे पुनर्जन्म लेना ही पड़ता है। इसलिए, अत्यन्त पुण्यार्जन के पश्चात् भी, संसार का बन्धन भोगना ही पड़ता है। उसका आचरण दूसरे भाई के समान होता है। आग से प्रज्वलित द्वार वाले मार्ग का चयन सरल लगता है, जैसे बुराई के मार्ग का। दूसरे द्वार का मार्ग चुनना, धर्म के मार्ग के समान, कठिन था जिसमें अपनी इन्द्रियों व मन को नियन्त्रित रखना पड़ता है।

भगवान ने बताया है कि एक व्यक्ति कर्मों से बिना बंधे भी, उन्हें किस प्रकार कर सकता है। व्यक्ति को फल की लालसा किए बिना, अपने सभी कर्मों व उनके फल ईश्वर को समर्पित कर, अपने कर्म करते रहना चाहिए। इस प्रकार कर्म करते हुए भी, कर्मफल के लगाव से निर्लिप्त रहना ही कर्म-योग कहलाता है। कर्म-योगी की तुलना तीसरे भाई से की जा सकती है, जो उसी द्वार से निकलकर बच गया, जिससे कि दूसरा भाई गया था (पर बिना किसी चोट के)। तीनों में से सबसे बुद्धिमान भाई ने पट्टियाँ बाँधकर अपने पैरों की रक्षा कर ली; कर्म-योगी भी अपने कर्मों व उनके फल ईश्वर को समर्पित कर, स्वयं की रक्षा कर लेता है।

एक व्यक्ति ईश्वर की पूजा करके उन्हें फल और अन्य खाद्यों का नैवेद्य लगाया करता था। पूजा के पश्चात्, वह उस नैवेद्य का एक अंश प्रसाद के रूप में ग्रहण करता था। उसके एक नास्तिक मित्र ने उपहास करते हुए, एक बार उससे कहा, "नैवेद्य की यह प्रक्रिया तुम्हारी मूढ़ता है। जो फल तुम ईश्वर को समर्पित करते हो, वह वहीं रहता है जहाँ उसे रखा गया था। न ही उसमें किसी भी प्रकार का कोई भौतिक विकार आता है। और तो और,

उसे अन्ततः तुम ही ग्रहण करते हो, न कि वह ईश्वर, जिनकी तुमने पूजा की।"

भक्त ने मन्दहास सहित उत्तर दिया, "मैं प्रभु को इस विश्वास के साथ नैवेद्य लगाता हूँ कि भगवद्गीता के उनके वचन के अनुसार, वे उसको स्वीकार करेंगे। स्वीकृत करने के पश्चात्, वे अपनी इच्छानुसार उसका विनियोग करने के लिए पूर्णतः स्वतन्त्र हैं। मेरा मानना है कि चूँकि वे सर्वशक्त हैं, वे पूर्णतया समर्थ हैं कि उसे अदृश्य करें, या उपभोग करने के बाद भी उसके पूर्ण स्वरूप में ही उसे यहाँ रहने दें। मेरा मानना है कि यह ईश्वर ही हैं जो उसे इस प्रकार ग्रहण करते हैं जिसकी कल्पना मनुष्य द्वारा नहीं की जा सकती है, और पुनः उसे मेरे लिए यहाँ छोड़ जाते हैं। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं नैवेद्य करने के बाद जो स्वीकार करता हूँ, वह ईश्वर द्वारा उपभुक्त वस्तु का ही शेष भाग है।"

"अभी अभी जब एक प्रसिद्ध राजनेता तुम्हारे शहर आया, तुमने एवं दूसरों ने उसका स्वागत किया व उसे पुष्पमालाएँ अर्पित कीं। वह निश्चित ही सभी मालाओं को नहीं पहन सकता था, ना ही उसने उन्हें पहना। तब उसने अपने को दी गई मालाओं में से, एक माला तुम्हें दी और तुमने अत्यधिक हर्ष से उसे स्वीकार किया। जैसे जैसे वह अपने समर्थकों की भीड़ के मध्य से गया, उसने कुछ मालाएँ उछालकर उनकी ओर फेंकीं और भीड़ ने जय-जयकार की। यह सर्वथा सम्भव है कि किसी समर्थक को वही माला वापस मिल गई हो जो उसी ने भेंट की थी। यद्यपि आपका नेता आपकी दी हुई मालाएँ रखता नहीं, तथापि आप लोग उसे मालार्पण करने से अपने आप को नहीं रोकेंगे; आप उसे सम्मानित करके प्रसन्न होते हैं, और आप उससे नहीं पूछते कि वह उन मालाओं का क्या करेगा। ऐसे में, मेरे निष्ठापूर्वक प्रभु को नैवेद्य अर्पित कर प्रसन्न रहने से, तुम इतना असन्तुष्ट क्यों हो? यदि तुम्हारा नेता तुम्हें मालाएँ लौटा सकता है, तो मेरे प्रभु मेरे नैवेद्य का उपभोग कर मुझे अनुगृहीत क्यों नहीं कर सकते? एक कर्म-योगी तो न केवल खाद्य पदार्थ, अपितु अपने आचार-विचार व सभी कर्म ही, ईश्वर को समर्पित कर देता है।"

एक व्यक्ति के दो सेवक थे। एक था जो अपने स्वामी का गुणगान करने में तो बड़ा निपुण था, पर उनके आदेश मानने में नहीं। दूसरा अपने सभी सौंपे गए कार्यों को दक्षता से पूरा करने के साथ ही स्वामी का भी सम्मान करता था। स्वामी को अवश्य ही प्रथम की अपेक्षा दूसरा सेवक अधिक प्रिय था। जो मनुष्य, दूसरे सेवक की भांति, ईश्वर द्वारा विहित एवं शास्त्रों द्वारा आदिष्ट सभी कर्मों को निष्ठापूर्वक करता है, इतना ही नहीं, वह ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण भाव से कर्म करता है, वह ईश्वर को प्रसन्न करता है और उनकी अपार कृपा का पात्र बनता है। ईश्वर की कृपा से, उसका चित्त अत्यन्त शुद्ध हो जाता है। फिर उचित समय पर, वह परम सत्य को प्राप्त कर, मुक्त हो जाता है।

एक माँ अपने नन्हें पुत्र से बहुत प्रेम करती थी और उसका बहुत ध्यान रखती थी। एक दिन, वह शिरोवेदना, ज्वर और मतली की समस्या से ग्रस्त होते हुए जगी। तथापि वह उठी और अपने पुत्र के प्रातः की आवश्यकाताओं की व्यवस्था करने व खाना बनाने में जुट गई। उस दिन उसने देखा कि चावल कुछ अधिक पक गए थे। तत्क्षण ही वह पुनः भात बनाने लगी। उसके पति ने यह देखा और उससे कहा, "तुम इतनी रुग्ण हो और तुम्हें अत्यन्त पीड़ा हो रही है। ऐसी अवस्था में क्यों चिन्तित हो रही हो? जो भात बना है, वह तो खाने योग्य है।" उसकी पत्नी ने उत्तर दिया, "मैं अपने बेटे को वैसा ही भोजन देना चाहती हूँ जैसे उसे खाने का अभ्यास है व जो उसे अभीष्ट है। इस अधिक पके भात को तो मैं स्वयं ही खा लूंगी।" पुत्र के प्रति अगाढ़ प्रेम में उस माँ ने उसके लिए सबसे श्रेष्ठ व्यवस्था करने का प्रयास किया। इसी प्रकार, एक कर्म-योगी, ईश्वर के प्रति अपनी भक्ति के फलस्वरूप, अपनी योग्यतानुसार श्रेष्ठकर्म ही करता है और अधर्म से बचता है।

दो छात्र एक परीक्षा में बैठे। अच्छी तैयारी करने के पश्चात् भी, उनकी परीक्षा अच्छी नहीं हुई, क्योंकि प्रश्न कठिन आए थे और कुछ प्रश्न निर्धारित पाठ्यक्रम से बाहर के थे। उनमें से एक जो कर्म-योग का अभ्यास नहीं करता था, अपनी विफलता से अत्यन्त शोकाकुल हो गया। जब वह घर जाकर अगली परीक्षा के लिए तैयारी करने लगा, तब उसका मन पूर्ण समय

उसी दिन के प्रश्नपत्र की ओर जाता रहा। इस चिन्ता ने उसकी तैयारी को अत्यन्त हानि पहुँचाई। दूसरा बालक जो कर्म-योगी था, तनिक भी चिन्ताग्रस्त नहीं हुआ। यह इसलिए कि उसने परीक्षा स्थल पर ही परीक्षा और उसके परिणाम को ईश्वर के लिए समर्पित कर दिया था। घर लौटकर उसने बिना किसी भी चिन्ता के, अगली परीक्षा की तैयारी पर अपना ध्यान केन्द्रित किया।

अगले दिन, पहला लड़का एक कठिन प्रश्न देखकर अत्यन्त दिग्भ्रान्त हो गया। कर्म-योगी ने उस प्रश्न को ध्यानपूर्वक पढ़ा और भयग्रस्त हुए बिना अपनी शक्ति के अनुसार उसका उत्तर लिखा। यह निश्चित ही है कि पहले लड़के ने दूसरे से निचली श्रेणी प्राप्त की। इस उदाहरण से पता चलता है कि कर्म-योगी की दक्षता उस व्यक्ति की दक्षता से अधिक होती है, जो अपने कर्मों के फल की लालसा से काम करता है।

भगवान ने भगवद्गीता में घोषणा की है — "तुम अपने विहित कर्तव्यों का पालन करो, क्योंकि कर्म अकर्म से श्रेष्ठतर है। इसके अतिरिक्त, अकर्म से तुम्हारे शरीर का निर्वाह भी सम्भव नहीं होगा। ईश्वरार्थ किए गए अपने कार्यों के अतिरिक्त, मनुष्य अपने सभी कार्यों से बँध जाता है। हे कुन्ती के पुत्र, बिना आसक्ति के ईश्वरार्थ कर्म करो... बिना आसक्ति के अपना कर्तव्य निभाकर व्यक्ति (अपने चित्त की शुद्धि के द्वारा) मोक्ष को प्राप्त करता है।"

6. कुण्डलिनी-योग से परिचय

[*निम्नलिखित संवाद 1978 में शृङ्गेरी में हुआ। अपराह्न में गुरूजी ने मुझे बुलवाया। वे सच्चिदानन्द-विलास की पूर्व दिशा के ऊपरी तल में अकेले बैठे थे। उन्होंने मुझे अंग्रेज़ी की दो पुस्तकें दीं जिनमें लेखकों ने कुण्डलिनी-शक्ति के जागरण और आरोहण से जुड़े अनुभवों के बारे में लिखा था। गुरुजी ने पहली बार कुण्डलिनी शक्ति के बारे में मुझे 1973 में बताया था और फिर अन्य अवसरों पर उस पर और प्रकाश डाला था। उन्होंने मुझे पुस्तकें पढ़ने और विषय-वस्तु पर अपनी टिप्पणी उन्हें देने के लिए कहा। फिर उन्होंने पूछा, "क्या तुम कुछ पूछना चाहते हो?"*]

मैं - क्या गुरुजी कृपा करके कुण्डलिनी और चक्रों के अपने पहले अनुभव के बारे में मुझे बताएँगे?

गुरुजी - यह मेरी संन्यास दीक्षा (1931 मई 22) के कुछ माह बाद हुआ। मैंने तब ही प्रातःकाल का अपना आह्निक समाप्त किया था और उठने ही वाला था। बिना पूर्व विचार के, मैंने अपनी हथेलियों को जोड़ा और कहा —

"**श्रीशारदायै नमः।**

(भव्य शारदा को प्रणाम।)"

अचानक, मैंने आनन्द की एक लहर का अनुभव किया और अपने परिवेश के बारे में अपनी जागरूकता खो दी। ऐसा लगने लगा कि मेरा शरीर पारदर्शी होता जा रहा है और मैं अपनी छाती के सामने किसी परिप्रेक्ष्य स्थान से अपनी रीढ़ की हड्डी को देख रहा हूँ।

मैं - क्या गुरुजी ने रीढ़ की हड्डी को पसलियों और आन्तरिक अङ्गों आदि के साथ देखा?

गुरुजी - नहीं। छाया की भाँति काले दिखाई देने वाले शरीर की बाहरी रूपरेखा के साथ, श्वेत रंग में केवल रीढ़ की हड्डी उभरकर दिखाई दी। तब रीढ़ की हड्डी पारभासी होने लगी और रीढ़ ने अपने भीतर एक नहर को प्रकट किया। देखते ही देखते, नहर की चौड़ाई बहुत बढ़ गई। फिर मैं उस नलिका की लम्बाई में जाती हुई तथा आग जैसी लाल और चमकीली एक नली देख पा रहा था। एक महिला की मधुर ध्वनि ने घोषणा की —

"**इयं सुषुम्ना नाडी।**

(यह सुषुम्ना-नाड़ी है।)"

मैं - क्या गुरुजी शब्दों के वक्ता को देख सकते थे?

गुरुजी - नहीं। मैंने केवल शब्द सुने। उस आग जैसी नहर की चौड़ाई तब विस्तारित हुई और उसका कुछ अनुदैर्घ्य खण्ड अदृश्य हो गया और उसके भीतर एक और नलिका दिखाई दी। सूर्योदय के आधे घंटे बाद सूर्य का जैसा रंग होता है, वह उस रंग की थी। मैंने ये शब्द सुने —

"**इयं वज्रा नाडी।**

(यह वज्रा-नाड़ी है।)"

इस नहर की चौड़ाई भी एकाएक बढ़ गई और इसकी लम्बाई का एक भाग फ़ीका पड़ गया। मेघ की एक पतली परत के माध्यम से दिखाई देने वाली चन्द्रमा जैसी दिखने वाली एक पीली नली, पहले वाली नली के भीतर दिखाई देने लगी। उस अवसर पर मैंने ये शब्द सुने —

"**इयं चित्रिणी नाडी। अत्र ब्रह्मनाडी वर्तते। सा सुषुम्नेत्यपि व्यपदिश्यते।**

(यह चित्रिणी-नाड़ी है। यहाँ ब्रह्म-नाड़ी स्थित है। इसे सुषुम्ना भी कहा जाता है।)"

मेरे मन में जो अर्थ प्रकाशित हुआ, वह यह था कि पीली नली को चित्रिणी कहा जाता है, उसका खोखला भीतरी भाग ब्रह्म-नाड़ी होता है और सुषुम्ना नाम का प्रयोग चित्रिणी- या ब्रह्म-नाड़ी को लक्षित करने के लिए भी किया गया है। आग सी, सूरज जैसी और पीली नहरें एक इकाई के रूप में दिखाई दीं।

दृश्य बदल गया। तब मैं समझ पाया कि नाड़ियों का त्रय निचले स्तर में गूदे और लिङ्ग के बीच में से लेकर, ऊपरी ओर भौंहों के स्तर से ऊपर, सिर के अन्दर, फैला हुआ है। इसके बाद, एक चन्द्रमा जैसी नली दिखाई दी जो स्पष्ट रूप से नाड़ियों के त्रय के साथ तल पर और भौहों के बीच, जुड़ी हुई

थी। इसके ऊपरी भाग पर, यह नली भौंहों के बीच के सन्धि-स्थल से लेकर बाईं नासिका छिद्र तक चलती रही। इसका निचला सिरा दाएँ वृषण पर समाप्त हुआ। दो सन्धि-स्थलों के बीच, त्रय के बाएँ और दाएँ पक्षों पर, यह चापों जैसी मुड़ी हुई थी और गले, छाती, नाभि और अण्ड के स्तर पर एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व जाती थी। एक पल के लिए, इस आकृति को एक ऐसी आकृति में बदल दिया गया जिसमें नली ने निचले और ऊपरी सन्धि-स्थलों के बीच, शरीर के बाईं ओर, एक धनुष जैसा चाप बनाया। मुझे लगा कि ये दोनों रूप उपलब्ध हो सकते हैं।

जब पिछली आकृति लौटाई गई, तो मैंने ये शब्द सुने —

"**इयम् इडा नाडी।**

(यह इडा-नाड़ी है।)"

मेरी साँसों के साथ तालमेल में, इस नली की लम्बाई में कुछ हिलता हुआ दिखाई दिया, जो मुझे किसी प्रकार लगा कि बस बाएँ नथुने से हो रहा है। साथ ही, ऐसा लगा कि नली के भीतर के प्रवाह का शीतलन प्रभाव है।

पल भर में, वह नली अदृश्य हो गई। इसके बदले, एक और नली प्रकट हुई जो लाल और चमकीली थी। यह भी स्पष्ट रूप से भ्रूमध्य और त्रय के साथ जुड़ी हुई थी, परन्तु इडा के विपरीत, यह दाहिने नथुने और बाएँ अण्डकोष तक विस्तृत थी। ऊपरी और निचले सन्धि-स्थलों के बीच, त्रय के बाएँ और दाएँ पक्षों पर, यह चापों जैसी मुड़ी हुई थी और गले, छाती, नाभि और अण्ड के स्तर पर एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व जाती थी। परन्तु, जहाँ भी पिछली नली दाईं से बाईं ओर जाती थी, वहीं यह नाड़ी उल्टे क्रम से दाएँ से बाएँ पार जाती थी। फिर, एक पल के लिए, आकार बदल गया और नली ने निचले और ऊपरी सन्धि-स्थलों के बीच, त्रय के दाईं ओर, एक धनुष जैसा चाप बनाया। तब मुझे ये शब्द सुनाई दिए —

"**इयं पिङ्गला नाडी।**

(यह पिङ्गला-नाड़ी है।)"

मुझे लगने लगा कि मेरा श्वासोच्छ्वास केवल दाहिने नासिका रन्ध्र से ही हो रहा है। श्वास के साथ तालमेल बिठाते हुए, इस नली की लम्बाई में कुछ हिलता हुआ दिखाई दिया। प्रवाह का प्रभाव ऊष्ण लग रहा था।

कुछ क्षण बाद, चन्द्रमा के रंग की नली जो अदृश्य हो गई थी, फिर से दिखाई देने लगी। तब मैं दोनों धनुषाकार नलियों को एक साथ देख सकता था। इसके बाद, मेरे श्वासोच्छ्वास नासिका के दाएँ रन्ध्र से बाएँ रन्ध्र पर बदले और साथ ही, लाल रंग की नली में गतिविधि के बदले, अब वह चन्द्रमा के रंग की नली में थी। कुछ ही समय बाद, मुझे लगा कि दोनों नथुनों से श्वास चल रहा है; मैं तब दोनों नलियों में गतिविधि को पहचान सकता था।

{बाद में, गुरुजी ने कहा — "इडा एवं पिङ्गला नाड़ियों के तीन रूपों की बात की गई है। पहले रूप में, दो नाड़ियों में से प्रत्येक सुषुम्ना के बाईं और दाईं ओर बारी-बारी से धनुषाकार बनाती है। दूसरा रूप सुषुम्ना के तल से भौहों के मध्य तक लगभग एक सीधी रेखा का है; सुषुम्ना के बाईं ओर इडा स्थित है जबकि दाईं ओर पिङ्गला। तीसरी आकृति स्थूलत: सुषुम्ना के एक पार्श्व में छाती में धनुष जैसी है। पहले और तीसरे रूपों में बहुत अन्तर है; दूसरे रूप को तो तीसरे रूप से थोड़ा ही विलक्षण माना जा सकता है, जिसमें धनुष की लम्बाई की तुलना में वक्र नगण्य है।" इसके बाद, गुरुजी ने षट्चक्र-निरूपण के पहले श्लोक पर कालीचरण की व्याख्या के निम्नलिखित भाग को पढ़कर सुनाया —

तदुक्तं यामले —

इडा च पिङ्गला चैव तस्य वामे च दक्षिणे
ऋज्वीभूते शिरे ते च वाम-दक्षिण-भेदतः।
सर्व-पद्मानि संवेष्ट्य नासारन्ध्रगते शुभे॥ इति।

अत्र 'शिरे ते च' इत्यत्र चकारो वार्थः। एतेनानयोः स्थित्यां द्विविधः कल्पो दर्शितः। अन्यत्रानयोर्धनुराकारेण स्थितिरुक्ता। तद्यथा —

विद्धि ते धनुराकारे नाडीडापिङ्गले परे॥ इति।

(षट्चक्र-निरूपण के प्रथम श्लोक पर कालीचरण की व्याख्या)

*यामल में कहा गया है — "इडा एवं पिङ्गला उसके बाएँ एवं दाएँ पार्श्व में रहते हैं। ये दोनों या तो नासिका के रन्ध्र तक सीधे जाते हैं, या फिर बारी-बारी से बाएँ से दाएँ ओर, और दाएँ से बाएँ ओर, सभी चक्रों को घेरते हैं।" इधर, '**शिरे ते च**' में स्थित '**च**'-कार का अर्थ है 'अथवा'। इस प्रकार इडा एवं पिङ्गला की दो अवस्थाओं को दर्शाया गया है। धनुष के वक्रीय भाग के सदृश आकृति के होने का उल्लेख अन्यत्र किया गया है। उदाहरण के लिए, कहा जाता है, "इडा एवं पिङ्गला नाड़ियों को धनुष के आकार का जानो।"*}

(**गुरुजी** -) दृश्य शीघ्र ही बदल गया और नलिका-त्रय के निचले सिरे पर केन्द्रित हुआ। वहाँ, मैं गहरे लाल रंग के चार पंखुड़ियों वाला एक सुन्दर कमल देख सकता था। वाणी ने घोषणा की —

"**इदं मूलाधार-चक्रम्।**

(यह मूलाधार-चक्र है।)"

उस कमल के परिफल क्षेत्र में एक शिवलिङ्ग था। बिजली सा चमकता हुआ एक नाग उस लिङ्ग को साढ़े तीन घेरों में लिपटा हुआ था। सर्प का फण लिङ्ग के ऊपरी सिरे पर टिका हुआ था और उसके मुँह ने नलिका-त्रय के मार्ग को प्रभावपूर्ण ढंग से अवरुद्ध कर दिया था।

सर्प गतिहीन था और सोया हुआ सा प्रतीत हो रहा था। तथापि, यह किसी भी प्रकार अचूक था कि यह असीमित शक्ति का मूर्त रूप है। मुझे बताया गया कि यह कुण्डलिनी है।

फिर, कुछ क्षणों के लिए, मैंने चार लाल पंखुड़ियों में से प्रत्येक पर एक विशिष्ट, चमकीले सुनहरे अक्षर को देखा; वे अक्षर थे — **वं**, **शं**, **षं** और **सं**। उसी समय, मैं परिफल क्षेत्र को घेरे हुए एक पीला वर्ग क्षेत्र देख सकता था। इस पीले चौकोर के अन्दर एक उल्टा लाल त्रिभुज था; कुण्डलिनी लाल त्रिकोण में पड़ी थी। भूमी में गिरी वर्षा की प्रथम बूँदों से उत्पन्न मिट्टी की गन्ध की अनुभूति के साथ, चौकोर में **लं** अक्षर दिखाई दिया।

मैं - क्या गुरुजी को लगा कि कमल से ही अभी अभी गीली धरती जैसी सुगन्ध आती है?

गुरुजी - नहीं। पृथिवी-बीज (**लं**) और मिट्टी की सुगन्ध दोनों एक साथ प्रकट हुए, और इसलिए मुझे बस यह समझ में आया कि मूलाधार-चक्र पृथ्वी-तत्त्व से जुड़ा हुआ है, जिसका लक्षण गन्ध का गुण है।

फिर, पीले चौकोर के भीतर कई दाँतों वाला एक श्वेत हाथी प्रकट हुआ। उस पर चार भुजाओं वाले एक देव विराजमान थे, जिन्होंने अपनी एक भुजा में वज्रायुध धारण किया हुआ था। इसके अतिरिक्त, मैंने एक हंस देखा, जिस पर चार मुख वाले एक देव बैठे थे। चार भुजाओं और लाल आँखों वाली एक देवी भी दिखाई दे रहीं थीं। वाणी द्वारा मुझे पता चला कि हाथी ऐरावत था और उस पर देव इन्द्र थे; दूसरे देव ब्रह्म थे, जबकि देवी डाकिनी थीं। देवता फिर अदृश्य हो गए और मैं लिङ्ग और कुण्डलिनी के साथ केवल कमल को देख सकता था।

मैं - तब गुरुजी के मन में समग्र रूप से क्या अवधारणा बनी?

गुरुजी - मैंने अनुभव किया कि कुण्डलिनी प्रधान थी और मूलाधार-चक्र पर चिन्तन करने का एक विधान, मेरे द्वारा देखे गए अक्षरों और देवताओं के साथ था।

इसके बाद, वह दृश्य सुषुम्ना में ऊपर की ओर स्थानान्तरित हुआ और शिश्न के मूल के स्तर के आसपास पहुँच गया। वहाँ, मैंने छह सिन्दूर रंग की पंखुड़ियों वाला एक कमल देखा। वाणी ने कहा —

"इदं स्वाधिष्ठान-चक्रम्।

(यह स्वाधिष्ठान-चक्र है।)"

कमल का मध्य क्षेत्र श्वेत था और उसमें एक नवचन्द्र जैसी आकृति थी। तब **वं** अक्षर उस क्षेत्र में कुछ क्षण के लिए प्रकट हुआ और साथ ही, मुझे पानी का स्वाद अनुभव हुआ। आपो-बीज (**वं**) और स्वाद ने मुझे यह समझने के लिए प्रेरित किया कि स्वाधिष्ठान-चक्र जल-तत्त्व से जुड़ा हुआ है, जिसका लक्षण रस का गुण है।

साथ ही, छह सिन्दूर की पंखुड़ियों पर एक-एक चमकीला अक्षर दिखाई दिया; वे अक्षर थे — **बं**, **भं**, **मं**, **यं**, **रं** और **लं**। श्वेत क्षेत्र में, मुझे एक मगरमच्छ दिखाई दे रहा था, जिस पर एक पाश सहित देव बैठे थे। इसके अतिरिक्त, मैंने एक गरुड़ पर विराजमान और अपने चार हाथों में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण किए हुए विष्णु की आकृति देखी। एक काली, तीन आँखों वाली देवी भी दिखाई दे रही थीं। वाणी ने मुझे बताया कि मगरमच्छ पर बैठे देव वरुण हैं और वह देवी राकिनी हैं।

वहाँ से दृश्य सुषुम्ना में और ऊपर की ओर बढ़ा। नाभि के स्तर पर, मुझे वर्षा के मेघों के समान दस काली पंखुड़ियों वाला एक कमल दिखाई दे रहा था। उसके आन्तरिक क्षेत्र में एक उल्टा लाल त्रिभुज था। मैंने ये शब्द सुने —

"इदं मणिपूर-चक्रम्।

(यह मणिपूर-चक्र है।)"

दस पंखुड़ियों पर नीले अक्षर — **डं**, **ढं**, **णं**, **तं**, **थं**, **दं**, **धं**, **नं**, **पं**, और **फं** — चमक उठे। लाल त्रिकोण के भीतर अग्नि-बीज **रं** दिखाई दिया और साथ-साथ गर्मी के अनुभव ने मुझे यह समझने के लिए प्रेरित किया कि यह चक्र, उस अग्नि-तत्त्व से जुड़ा है जो गर्मी और रूप लक्षण वाला है। मैंने लाल क्षेत्र में चार भुजाओं वाले, भेड़े पर विराजमान एक देव को, बैल पर बैठे भस्मधारी रुद्र को और पीले रंग के वस्त्र पहने तीन मुखों वाली एक काली देवी को भी देखा। मुझे बताया गया कि भेड़े पर देव अग्नि हैं और वह देवी लाकिनी हैं।

मैं - क्या यह बतलाने वाला कुछ स्पष्ट था कि मूलाधार से स्वाधिष्ठान तक, और फिर मणिपूर तक, कुण्डलिनी उठ सकती है?

गुरुजी - नहीं, परन्तु सुषुम्ना में ऊपर की ओर, एक चक्र से दूसरे चक्र में, दृश्य के परिवर्तन होने से यह सङ्केत मिला था। किसी भी दशा में, स्वाधिष्ठान को देखने पर अपने आप में एक दृढ़ विश्वास पैदा हुआ कि यह एक ऐसा केन्द्र है जहाँ कुण्डलिनी ब्रह्म-नाड़ी के माध्यम से चढ़ सकती है। ऐसा ही निश्चय मणिपूर के सम्बन्ध में उत्पन्न हुआ।

सुषुम्ना में मणिपूर से उठकर, दृष्टि का ध्यान छाती के स्तर तक आया। मुझे बारह लाल पंखुड़ियों वाला पद्म दिखाई दे रहा था। वाणी ने मुझे बताया —

"इदम् अनाहत-चक्रम्।

(यह अनाहत-चक्र है।)"

भीतरी भाग में एक धुएँ के रंग का षट्कोणीय क्षेत्र था, जो दो त्रिभुजों द्वारा — एक सीधा और एक उल्टा — निर्मित था। इसके भीतर एक उल्टा त्रिभुज था और उसमें एक चमकदार लिङ्ग था। लिङ्ग वाला यह चक्र, शुद्ध एवं पवित्र स्थान प्रतीत हुआ। कण्ठध्वनि से विलक्षण सा, एक आन्तरिक नाद सुनाई दिया। मुझे स्वतः ही लगा कि मूलाधार में जो ध्वनि अव्यक्त रूप में थी, वह मणिपूर में थोड़ी कम सूक्ष्म अवस्था में चली गई और फिर यहाँ, बोले जाने वाले और सुने जाने वाले शब्द की पूर्वावस्था पर पहुँची।

तत्पश्चात्, **कं**, **खं**, **गं**, **घं**, **ङं**, **चं**, **छं**, **जं**, **झं**, **ञं**, **टं** तथा **ठं** अक्षर कुछ पल तक उन पंखुड़ियों पर प्रकट हुए। षट्कोणाकार में, मैंने वायु-बीज **यं** देखा और साथ ही मुझे थोड़ी सी वायु का अनुभव हुआ। इससे मुझे यह अवगत हुआ कि अनाहत-चक्र का सम्बन्ध, स्पर्श लक्षण वाले वायु-तत्त्व से है। मैंने आगे षट्कोणीय क्षेत्र में, मृग पर विराजमान, चार भुजाओं वाले एक धुएँ के रंग के देव को, अभय तथा वरदान मुद्राओं को प्रदर्शित करने वाले, बहुत ही आकर्षक तीन आँखों वाले एक देव को और एक देवी को देखा। वाणी ने घोषणा की कि हिरण पर विराजमान देव वायु, दूसरे देव ईश (शिव जी) और देवी काकिनी हैं।

दृष्टि का ध्यान सुषुम्ना में ऊपर कण्ठ के स्तर तक पहुँचा। वहाँ मैंने सोलह पंखुड़ियों वाला एक कमल देखा, जो धुएँ के रंग का था। वाणी बोली —

"इदं विशुद्ध-चक्रम्।

(यह विशुद्ध-चक्र है।)"

भीतरी भाग में एक श्वेत गोलाकार वलय था। कुछ पल भर के लिए स्वराक्षर पंखुड़ियों पर लाल रंग में प्रकट हुए। वृत्ताकार क्षेत्र में आकाश बीज **हं** की

उपस्थिति के साथ-साथ, विशाल विस्तार में मेरे होने की भावना ने मुझे यह समझने के लिए प्रेरित किया कि वह चक्र आकाश-तत्त्व से जुड़ा है।

आन्तरिक क्षेत्र में, मैंने एक श्वेत हाथी पर बैठे एक देव, पार्वती के साथ पाँच मुख और दस भुजाओं वाले शिव, और पीले रंग के वस्त्र में एक देवी को भी देखा। वाणी ने उद्घोषित किया कि देव अम्बर हैं, भगवान यहाँ सदाशिव के रूप में स्थित हैं तथा देवी शाकिनी हैं। मुझे इस चक्र ने एक श्रेष्ठ केन्द्र होने का बोध कराया।

दृश्य सुषुम्ना में भौहों के स्तर तक और भी आगे बढ़ा। मैं दो सफेद पंखुड़ियों वाले एक भव्य कमल को देख पा रहा था। वाणी ने मुझे बताया —

"**इदं आज्ञा-चक्रम्।**

(यह आज्ञा-चक्र है।)"

मध्य क्षेत्र में एक उल्टा त्रिकोण था जिसमें एक लिङ्ग था। त्रिभज के ऊपर एक नवचन्द्र था। तत्पश्चात्, दो पंखुड़ियों पर **हं** और **क्षं** अक्षर और आन्तरिक क्षेत्र में प्रणव (**ॐ**) प्रकट हुए। प्रणव का अनुस्वार, बिन्दु रूप में अर्धचन्द्र के ऊपर था। मैं एक छह मुख वाली देवी को भी देख पा रहा था। मुझे बताया गया कि वह हाकिनी है। इस चक्र को देखने से ही, मुझे बहुत आनन्द हुआ।

फिर सुषुम्ना के छोर के ऊपर और सिर के भीतर मैंने एक कमल देखा, जिसमें बहुत सारी श्वेत पंखुड़ियाँ नीचे की ओर लटकी हुई थीं और कई परतों में व्यवस्थित थीं। संस्कृत वर्णमाला के सभी पचास अक्षर वहाँ देखे जा सकते थे। वाणी ने मुझे बतया कि यह सहस्र पंखुड़ियों वाला सहस्रार है। कमल के परिफल क्षेत्र पर एक ऐसा वलय था जो पूर्णचन्द्रमा जैसा दिखता था और अमृत किरणें बहाता था। इसके अन्दर एक प्रकाशमान त्रिकोण था। मैंने इन शब्दों को सुना —

"**अत्र परमशिवः स्थितः।**

(यहाँ परमशिव विराजमान हैं।)"

जबकि मैं आज्ञा और सहस्रार के बीच कुछ क्षेत्रों की उपस्थित को किसी प्रकार से अनुभव कर सकता था, तो भी मैंने उन्हें साक्षात् ग्रहण नहीं किया।

इस आशय का कोई भी शब्द सुने बिना भी, मुझे निश्चित रूप से लगा कि जागृत कुण्डलिनी-शक्ति का आरोहण सहस्रार पर समाप्त हो गया, जिसमें शक्ति परमशिव के साथ जुड़ गई।

इस स्तर पर मेरा अनुभव समाप्त हो गया। जैसे ही मैंने अपनी आँखें खोलीं, तो मैं थोड़ा आश्चर्य चकित था कि क्या मैं एक स्वप्न देख रहा था या स्पष्ट रूप से मतिभ्रम का अनुभव कर रहा था, अथवा फिर, मुझे कोई दिव्य अनुभव हुआ था। उस विषय पर कोई और विचार किए बिना, मैं उठा और गुरुजी की उपस्थिति में जाने के लिए निकल पड़ा, क्योंकि मेरे लिए उन्हें प्रणाम करने का समय आ गया था।

मैं - यह अनुभव कितने समय तक चला?

गुरुजी - तुमको क्या लगता है कि अवधि क्या रही होगी?

मैं - आधे से एक घंटे के बीच।

गुरुजी (हँसते हुए) - यह 5 मिनट से भी कम समय तक चला।

{यह सुनकर जो मुझे आश्चर्य हुआ, उसे गुरुजी ने हास्यपूर्ण पाया और पूछा, "अब समय क्या है?" अपनी कलाई पर घड़ी को देखते हुए मैंने कहा, "4.43।" मैं गुरुजी के सामने आलती-पालती लगाकर बैठा हुआ था और मेरी बाहुएँ मेरे पैरों पर टिकी हुई थीं और मेरी हथेलियाँ जुड़ी हुई थीं। गुरुजी आगे झुके और उन्होंने मेरी जुड़ी हुई हथेलियों को अपने दाएँ हाथ में पकड़ लिया। अपनी आँखे बन्द करते हुए, उन्होंने कहा "अम्बा (*माँ*)!" अचानक, जो कुछ गुरुजी ने वर्णित किया था, वह मेरे सामने बड़ी स्पष्टता के साथ प्रकट होने लगा। गुरुजी द्वारा बताई गई वाणी को भी मैंने सुना। मेरा अनुभव वहीं समाप्त हो गया जहाँ गुरुजी का अनुभव अन्त हुआ था।

मुझे अपने शरीर और परिवेश के बारे में भान आया और मैंने देखा कि गुरुजी मेरे हाथ से अपना हाथ हटा रहे हैं। "अब क्या समय हुआ है?" उन्होंने पूछा। घड़ी देखकर मैंने बताया, "4.46।" गुरुजी ने स्मितवदन होते हुए कहा, "जैसा कि तुम देख सकते हो, 5 मिनट से भी कम समय बीता है।" तब

उन्होंने मुझे निर्देश दिया, "आज्ञा-चक्र में तुमने हाकिनी के हाथों में जो देखा, उसका विवरण दो।" चूँकि वह दृश्य सुस्पष्ट था और उसकी स्मृति भी अभी की थी, इसलिए मैंने तुरन्त कहा, "अभय-मुद्रा, वरद-मुद्रा, पुस्तक, कपाल, डमरू और रुद्राक्ष-माला।"

सिर हिलाते हुए, गुरुजी ने कहा, "हाँ, तब मैंने ठीक यही देखा था। मैंने तुमसे उस बारे में पूछा था जिसका वर्णन मैंने पहले नहीं किया था, ताकि हमारी दृष्टि की समानता की पुष्टि हो सके। वे एक जैसे होने के कारण, यह मानना उचित होगा कि दोनों एक ही समय तक चले, न कि तुम्हारी दृष्टि तीन मिनट और मेरी आधी से एक घंटे तक।}

मैं - क्या गुरुजी ने इस अनुभव से पहले कुण्डिलिनी और चक्रों के बारे में पढ़ा था? क्या परमगुरुजी ने गुरुजी से उनके बारे में बात की थी?

गुरुजी - दोनों नहीं। उस समय मैं कुण्डिलिनी-योग के बारे में सर्वथा अपरिचित था। यदि किसी ने मुझसे तब पूछा होता, "आप कुण्डिलिनी के विषय में क्या जानते हैं?" तो सम्भवतः मैं इतना ही कहता कि यह ललिता-सहस्रनाम के अन्तर्गत एक नाम है!

{अगले 45 मिनट तक, उन्होंने अपने दर्शनार्थ आए भक्तों को दर्शन दिए और आशीर्वाद प्रदान किया। उसके बाद, वे अपनी दैनिक सायंकालीन सैर पर जाते, परन्तु वर्षा हो रही थी और इसीलिए वे भ्रमण पर नहीं गए। उन्होंने सङ्केत दिया कि यदि मैं उनसे कुछ पूछना चाहता हूँ, तो पूछ सकता हूँ।}

मैं - इस वृत्तान्त को क्या गुरुजी ने परमगुरुजी के समक्ष निवेदन किया? उन्होंने क्या कहा?

गुरुजी - जब मैं गुरुजी को प्रणाम कर रहा था, तब वे अपना आह्निक करते रहे। उन्होंने मेरी उपस्थिति पर ध्यान देने का कोई सङ्केत नहीं दिया। चूँकि मैं गुरुजी के गतिविधियों में बाधा डालना नहीं चाहता था, मैं वहाँ से चुपचाप निकलने लगा। एकाएक उन्होंने मेरी ओर देखा और कहा, "हाँ, बताईए।" मैंने निवेदन किया, "कुछ मिनट पहले, मुझे कुछ अप्रत्याशित अनुभव हुआ,

जो किसी दिव्य उपदेश की भाँति प्रतीत होता है। हालाँकि, मैं निश्चित रूप से नहीं जानता हूँ कि यह एक दिवास्वप्न या मतिभ्रम नहीं था।" गुरुजी की दृष्टि मुझ पर थी, परन्तु उन्होंने कुछ कहा नहीं। इसलिए, मैं विवरण देने के लिए आगे बढ़ा। मेरी बात पूर्ण होने पर उन्होंने कहा, "अच्छा," और वे दण्ड़-तर्पण के लिए सज्जित हो गए। प्रसन्नता अनुभव करते हुए कि गुरुजी ने मुझे अपना समर्पण करने का अवसर प्रदान किया है, मैं चला गया।

उस दिन, प्रातःकालीन चन्द्रमौलीश्वर-पूजा गुरुजी द्वारा की गई थी, न कि अर्चक द्वारा। अपराह्न में, भिक्षा के बाद, गुरुजी ने मुझे बुलावा भेजा। जब मैं गुरुजी की उपस्थिति में गया और प्रणाम किया, तो उन्होंने मुझे बैठने का सङ्केत किया। उन्होंने कहा, "आपने बाएँ और दाएँ नासारन्ध्र में श्वास के साथ-साथ इडा और पिङ्गला नाड़ियों में कुछ हिलता हुआ अनुभव किया था। वह गति प्राणवायु की थी। आपकी अनुभूति सही थी कि वह ध्वनि मुलाधार में अव्यक्त होती है और जैसे ही वह मणिपूर पहुँचती है, तो कम सूक्ष्म अवस्था प्राप्त करती है, और अनाहत में, वह मुखरित रूप से पूर्वभावी रूप प्राप्त कर लेती है।

"कहा जाता है कि शब्द के चार रूप हैं — परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी। प्रत्येक रूप पूर्ववर्ती की तुलना में स्थूल है। मुखरित वाणी चौथे प्रकार की होती है। वेद हमें निर्देशित करता है —

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनिषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

(ऋग्वेद 1.164.45)

(वाणी के चार स्पष्ट स्तर हैं। ब्राह्मण जो बुद्धिमान हैं, वे उन्हें जानते हैं। तीन रूप गुप्त एवं गतिहीन हैं। मनुष्य तो वाणी का चौथा स्तर बोलते हैं।)

"मूलाधार से उठती हुई वायु नाभि, हृदय और गले से ऊपर चढ़ती है और श्रवणयोग्य ध्वनि उत्पन्न करती है। इन चार स्तरों पर वह परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी की संज्ञा पाती है। मूलाधार और अन्य चक्र जो आपने देखे, उनका उल्लेख उपनिषदों और तन्त्रों में है। उदाहरण के लिए, योगचूडामणि-उपनिषद् सिखाता है —

चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षड्दलम्॥
नाभौ दशदलं पद्मं हृदयं द्वादशारकम्।
षोडशारं विशुद्धाख्यं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा॥
सहस्रदल-सङ्ख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथि। (योगचूडामणि-उपनिषत् 4-6)

(ब्रह्म-नाड़ी के श्रेष्ठ मार्ग पर चार पंखुड़ियों वाला मूलाधार, छह पंखुड़ियों वाला स्वाधिष्ठान, नाभि पर दस पंखुड़ियों वाला, हृदय का बारह पंखुड़ियों वाला, विशुद्ध नामक सोलह पंखुड़ियों वाला, भ्रूमध्य में दो पंखुड़ियों वाला और एक सहस्र पंखुड़ियों वाला पद्म रहते हैं।)"

फिर, उन्होंने एक पुस्तक उठाई और मुझसे कहा, "यह षट्चक्र-निरूपण है, जो पूर्णानन्द नामक एक तान्त्रिक द्वारा रचित कृति का एक अध्याय है। जैसा कि शीर्षक से स्पष्ट है, यह चक्रों को चित्रित करता है। मैं मणिपूर के बारे में तीन छंदों को पढ़ूँगा और संक्षेप में समझाऊँगा। आप समझ सकेंगे कि आपने जो देखा, वह इस वर्णन के अनुरूप है।"

{परमगुरुजी के इन शब्दों को सुनाकर, गुरुजी ने परमगुरुजी से सुने हुए श्लोकों को पढ़ा और उन्हें संक्षेप में स्पष्ट किया। अपने स्पष्टीकरण के बारे में उन्होंने टिप्पणी की, "यह वही है जो गुरुजी ने मुझे उस दिन बताया था।" वे पद्य हैं —

तस्योर्ध्वे नाभिमूले दशदल-लसिते पूर्णमेघ-प्रकाशे
नीलाम्भोज-प्रकाशैरुपहित-जठरे डादिफान्तैः सचन्द्रैः।
ध्यायेद्वैश्वानरस्यारुण-मिहिर-समं मण्डलं तत्त्रिकोणं
तद्बाह्ये स्वस्तिकाख्यैस्त्रिभिरभिलसितं तत्र वह्नेः स्वबीजम्॥
(षट्चक्र-निरूपण 19)

स्वाधिष्ठान के ऊपर नाभि के मूल में, वर्षा के घने मेघ के रंग में, दस पंखुड़ियों वाला एक कमल है, जिसमें नीलकमल रंग के अक्षर हैं, जो **डं** *से प्रारम्भ होते हैं और* **फं** *के साथ समाप्त होते हैं। वहाँ उगते सूर्य के समान अग्नि के त्रिभुजाकार क्षेत्र पर ध्यान करना चाहिए। इसके बाहर स्वस्तिक चिह्नों का एक त्रय है और इसके भीतर अग्नि का बीज (***रं***) है।*

ध्यायेन्मेषाधिरूढं नवतपन-निभं वेदबाहूज्ज्वलाङ्गं
तत्क्रोडे रुद्रमूर्तिर्निवसति सततं शुद्ध-सिन्दूररागः।
भस्मालिप्ताङ्गभूषाभरण-सितवपुर्वृद्धरूपी त्रिनेत्रो
लोकानामिष्टदाताऽभयलसितकरः सृष्टिसंहार-कारी॥

(षट्चक्र-निरूपण 20)

भोर के समय सूर्य के समान तेजस्वी शरीर और चार भुजाओं वाले, भेड़े पर विराजमान अग्निदेव का ध्यान करना चाहिए। सदा ही उनके वक्षस्थल में — शुद्धसिन्दूर रूपरंगवाले, भस्मधारी और श्वेत दिखने वाले, पूर्ण विकसित, तीन नेत्रोंवाले, हाथों में वरद और अभय मुद्राओं को धारण किए हुए और सृष्टि के संहारक — रुद्र विराजमान हैं।

अत्रास्ते लाकिनी सा सकल-शुभकरी वेदबाहूज्ज्वलाङ्गी
श्यामा पीताम्बराद्यैर्विविध-विरचनालङ्कृता मत्तचित्ता।
ध्यात्वैतन्नाभि-पद्मं प्रभवति नितरां संहृतौ पालने वा
वाणी तस्याननाब्जे निवसति सततं ज्ञान-सन्दोह-लक्ष्मीः॥

(षट्चक्र-निरूपण 21)

सभी का भला करनेवाली, चतुर्भुज सहित चमकदार शरीर वाली, श्यामल रंग की, पीले वस्त्र धारण करने वाली, विभिन्न आभूषणों से अलङ्कृत तथा हर्षोन्मत्त लाकिनी यहाँ निवास करती हैं। नाभि पर इस कमल (मणिपूर) का ध्यान करने से, व्यक्ति को रक्षा और संहार करने की शक्ति प्राप्त होती है। ज्ञान की सर्वसम्पदा सहित सरस्वती सदैव उनके मुँह में निवास करती हैं।}

(**गुरुजी** -) मुझे यह बोध हुआ कि मैंने मणिपूर-चक्र के बारे में जो कुछ देखा था, वह पाठ में निहित विवरण से मेल खाता है। मेरे मन में दो शङ्काएँ उठीं। क्या चक्र स्थूल शरीर के वास्तविक घटक हैं जिन्हें शल्य-चिकित्सकों द्वारा माँस और हड्डियों जैसे देखा जा सकता है? क्या चक्रों के बारे में कुछ अंश और ध्यान योग्य देवताओं के रूपों का विवरण, आधिकारिक ग्रन्थों में एक से अधिक प्रकार से प्राप्त होते हैं? दूसरी शङ्का इससे प्रेरित था कि मैंने इडा और पिङ्गला को दो-दो रूपों में देखा था। मेरे कुछ पूछे बिना भी, गुरुजी ने स्वयं कहा, "चक्र सूक्ष्म हैं और हमारे नेत्रों से नहीं देखे जाते। हालाँकि, निपुण व्यक्तियों द्वारा ध्यान करते समय वे और कुण्डलिनी गोचरित हो सकते हैं।

चक्रों और उनमें देवताओं के वर्णन में कुछ अन्तर है। अब उन पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है।"

मैं - क्या परमगुरुजी ने गुरुजी के अप्रत्याशित अनुभव के कारण और उसके शिक्षणात्मक होने के बारे में कुछ कहा?

गुरुजी - चूँकि तुम जानना चाहते हो, तो मैं तुम्हें इसके बारे में भी बताऊँगा। मेरी अनिवेदित शङ्काओं को दूर करने के बाद, उन्होंने मृदुता से मेरे बाएँ गाल पर थपथपाया और कहा, "आप धन्य हैं। आज स्वयं शारदाम्बा ने आपको सिखाया है और वह भी स्वेच्छा से। मुझे स्मरण हो आता है कि मेरे गुरुजी (परमपूज्य श्री सच्चिदानन्द शिवाभिनव नृसिंह भारती महास्वामी जी) को देवी ने स्वयं ही योग से अवगत कराया था। उसके पहले ही परमगुरुजी (परमपूज्य श्री नृसिंह भारती महास्वामी जी) ने उनसे कहा था कि वे ऐसा करेंगी। गुरुजी (परमपूज्य श्री सच्चिदानन्द शिवभिनव नृसिंह भारती महास्वामी जी) ने स्पष्टतः अपने 'श्रीशारदा-शतश्लोकी-स्तव' में कहा है —

आज्ञासीद्गौरवी मे तव खलु करुणावारिधिः शारदाम्बा
साष्टाङ्गं योगमारादुपदिशति भवानौरसः सूनुरस्याः।

(श्रीशारदा-शतश्लोकी-स्तवः 25)

(मेरे लिए मेरे गुरुजी का आधिकारिक कथन था, "करुणासागर आपकी माँ शारदाम्बा, निश्चय ही शीघ्र आपको आठ अङ्ग वाले योग के बारे में उपदेश देगी। आप उनकी अपनी सन्तान हैं।")

"आप उनके अपने ही हैं। इसलिए, यह उचित ही है कि उन्होंने आपको निर्देश देना चुना। वे आपको आगे भी सिखाएँगी। गुरुजी (परमपूज्य श्री सच्चिदानन्द शिवाभिनव नृसिंह भारती महास्वामी जी) न केवल जागते समय, प्रत्युत स्वप्नों में भी, उनका मार्गदर्शन प्राप्त करते थे। आप भी इसी प्रकार प्राप्त करेंगे।"

{जबकि परमगुरुजी ने शारदाम्बा द्वारा स्वयं साक्षात् सिखाए जाने का कोई उल्लेख नहीं किया, तथापि यह तथ्य उनकी अपनी रचना के निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट है —

आगच्छन्ती सदनमदसीयं पुरा शारदाम्बा
ताटङ्काढ्या मुदित-वदना स्वप्न एवं ह्यपश्यम्।
काले काले बहुल-कृपया शब्दयन्ती स्वनाम्ना
ह्वायं ह्वायं सकलमपि मे बोधयामास देवी॥

इससे पहले, मैंने स्वप्न में शारदाम्बा को झुमके से विभूषित, हर्षित मुखमण्डल के साथ अपने निवास पर आते हुए देखा। हर समय, देवी ने बड़ी कृपा के साथ, बार-बार मेरा नाम लेते हुए, मुझे बुलाया और मुझे सब कुछ बताया।}

मैं - क्या परमगुरुजी ने गुरुजी के अनुभव के सम्बन्ध में कुछ और कहा था?

गुरुजी - नहीं, मैंने तुम्हें सब कुछ बता दिया है।

मैं - परमगुरुजी ने कहा था कि अम्बा गुरुजी को आगे भी बोधित करेंगी और यहाँ तक कि स्वप्नों में मार्गदर्शन का सन्दर्भ भी दिया। क्या उस प्रातः के अनुभव का ऐसा कोई अनुगम था?

गुरुजी (हँसते हुए) - जैसा मैंने अनुमान लगाया था, यह बात तुम्हारे ध्यान से नहीं उतरी। हाँ, ऐसा एक अनुगम था। मैं तुम्हें इसके बारे में कल बताऊँगा।

{कुछ मिनट पहले, वर्षा थम गई थी। गुरुजी उठे, और मुझे पीछे चलने का सङ्केत देते हुए टहलने चले गए। अगले दिन गुरुजी के मध्याह्न स्नान के लिए जाने से पहले निम्नलिखित संवाद हुआ।}

गुरुजी - जिस अनुभव के बारे में मैंने कल कहा था, उसके बाद की रात में मैंने एक स्वप्न देखा। यह मेरे शारदाम्बा के गर्भगृह में अकेले होते हुए आरम्भ हुआ। मूर्ति के स्थान पर अम्बा प्रकट हुई और उन्होंने मुझे अपनी गोद में बिठा लिया। फिर हमारे सामने मैंने एक लड़के को देखा, जो मेरे जैसा दिखता था। वह पद्मासन में बैठा था और केवल गेरू का लंगोटी पहना हुआ था। किसी प्रकार, मैं उसकी कुण्डलिनी को, कुण्डलित नाग के रूप में, उसके मूलाधार-चक्र में सोता हुआ देख पा रहा था। अम्बा ने अपने दाहिने हाथ से मूलाधार-चक्र के क्षेत्र में उसकी पीठ पर मृदुता से उसे छुआ।

तुरन्त, सोई हुई कुण्डलिनी जाग उठी और फुफ़कारते हुए अपना फण उठा लिया। चक्र की चारों पंखुड़ियाँ, जो पहले झुकी हुई थीं, ऊपर की ओर उठीं। कमल अब पूर्ण रूप से खिला हुआ दिखाई दे रहा था और पंखुड़ियों पर अक्षर स्पष्ट और चमकीले हो गए। अचानक ही, दृश्य बदल गया। मैंने फिर कुण्डलिनी को सोते हुए देखा। इस बार अम्बा ने लड़के को भौंहों के बीच छुआ। कुण्डलिनी पहले जैसी जाग उठी। मैं समझ गया कि गुरु के स्पर्श से कुण्डलिनी को जगाया जा सकता है और मूलाधार के अनुरूप पीठ का भाग तथा भौहों के बीच का क्षेत्र उन स्थानों में से हैं, जहाँ ऐसा स्पर्श विशेष रूप से प्रभावी होता है।

जैसे ही यह बात मेरी समझ में आई, मैंने पुनः उसकी कुण्डलिनी को सोते हुए देखा। अब अम्बा ने आशीर्वाद की मुद्रा में अपना दाहिना हाथ उठाया। उन्होंने बालक को नहीं छुआ। इस बार भी उसकी कुण्डलिनी जागी। मुझे यह बोध हुआ कि गुरु अपने मानसिक आशीर्वाद से भी, कुण्डलिनी को जगा सकते हैं। आगे, लड़के ने जालन्धर, उड्डीयान एवं मूल बन्धों के साथ प्राणायाम करना प्रारम्भ किया।

मैं - लड़के की गर्दन और पेट को देखकर, गुरुजी आसानी से समझ सकते थे कि वह जालन्धर- और उड्डीयान-बन्ध लगा रहा है। गुरुजी ने यह निष्कर्ष कैसे निकाला कि वह अपने गुदा को सिकोड़ रहा था और इस प्रकार पूर्णतः मूल-बन्ध लगा रहा था?

गुरुजी - यह एक वैध प्रश्न है। उस समय, मैंने स्वयं को सहज रूप से मूल-बन्ध लगाते हुए पाया और मेरे मन में बस एक विश्वास पैदा हो गया कि लड़का वही कर रहा है। मैंने देखा कि लड़के की सुषुम्ना में एक आग बन रही है और उसकी लपटें उसकी सोई हुई कुण्डलिनी को चाटने लगी है। मैं उस आग की गर्मी को अनुभव कर सकता था। जैसे ही आग की लपटों ने उसे गर्म किया, कुण्डलिनी अचानक जाग गई और जोर से फुफ़कारने लगी। फिर, वह सुषुम्ना पर चढ़ने लगी। मैं समझ गया कि जालन्धर, उड्डीयान और मूल बन्धों के साथ प्राणायाम के अभ्यास से कुण्डलिनी को जगाया जा सकता है।

दृश्य में परिवर्तन आया और मैंने देखा कि कुण्डलिनी फिर से सो रही है। मुझे ऐसा लग रहा था कि उस लड़के के मन में जो कुछ चल रहा है, उसे मैं अनुभव कर रहा हूँ। मुझे लगा कि वह मूलाधार का मानसिक चित्रण कर रहा है और उसमें देवताओं पर ध्यान कर रहा है। फिर उसने कुण्डलिनी की मानसिक पूजा की। तत्पश्चात्, उसने कल्पना की कि कुण्डलिनी को उनके द्वारा स्वाधिष्ठान-चक्र की ओर श्रद्धापूर्वक ले जाया जा रहा है। वहाँ, उसने स्पष्ट रूप से स्वाधिष्ठान की कल्पना की और उसमें देवताओं पर ध्यान केन्द्रित किया। ऐसा करने के बाद, उसने कुण्डलिनी की पूजा की। यह पूजन स्पष्ट रूप से उसका अनुक्रम था जिसे उसने मूलाधार में प्रारम्भ किया था। मेरे मन में एक दृढ़ विश्वास उत्पन्न हुआ कि चक्रों का ऐसा मानसदर्शन, उनमें देवताओं का ध्यान और कुण्डलिनी की पूजा, कुण्डलिनी को जगाने और ऊपर उठाने में सहायक होते हैं। पूर्ण प्रक्रिया ने मुझे बहुत आनन्दित किया।

एक बार पुनः दृश्य परिवर्तित हुआ। मैंने कुण्डलिनी को सुषुम्ना में ऊपर जाने के कगार पर देखा। वहाँ चढ़ाई में कुछ रुकावट लग रही थी। हालाँकि, कुण्डलिनी ने अपने बल से उसे पार किया और ऊपर चढ़ गई। मैंने अम्बा को मुझे यह कहते सुना —

"ब्रह्म-ग्रन्थिं भित्वेयमूर्ध्वं गच्छति।

(ब्रह्म-ग्रन्थि को भेदकर, वह ऊपर की ओर बढ़ रही है।)"

मुझे लगा कि वह बालक कुण्डलिनी को उठाने का सङ्कल्प कर रहा है और सङ्कल्प शक्ति का यह अभ्यास एक सकारात्मक योगदान दे रहा है। जैसे ही कुण्डलिनी स्वाधिष्ठान-चक्र में पहुँची, वह कमल पूर्ण रूप से खिल गया। कुण्डलिनी शीघ्र ही मणिपूर-चक्र पर पहुँच गई। फिर, ऊपर की ओर बढ़ने के बदले, वह धीरे-धीरे मूलाधार-चक्र में उतरी और वहीं निश्चल हो गई। मैं समझ गया कि जागृत कुण्डलिनी के लिए यह सम्भव है कि वह आंशिक रूप से सुषुम्ना में ऊपर उठे, वहाँ से उतरे और सुप्त हो जाए।

कुछ ही क्षणों में, मैंने पुनः लड़के की कुण्डलिनी का जागना और आरोहण देखा। इस बार उसके आरोहण में मूलाधार से मणिपूर के पार तक के सञ्चार

में कोई बाधा नहीं दिखाई दी। ऐसा लगा कि अनाहत-चक्र के क्षेत्र में उसे कुछ अड़चन का सामना करना पडा। तथापि, उसने इस बाधा को पारकर अपना मार्ग बनाया और अनाहत-चक्र के खिलने का कारण बना। अम्बा ने मुझे बताया —

"विष्णु-ग्रन्थिश्छिन्नः।

(विष्णु-ग्रन्थि को काट दिया गया है।)"

विशुद्ध-चक्र से होते हुए आगे बढ़ती हुई कुण्डलिनी, आज्ञा-चक्र में आई। यहाँ भी, उसने किसी बाधा को पार किया और ऊपर की ओर बढ़ी। अम्बा ने कहा —

"रुद्रग्रन्थि-भेदो जातः।

(रुद्र-ग्रन्थि का भेदन हुआ।)"

अन्ततः, कुण्डलिनी सहस्रार के परिफल क्षेत्र में पहुँची। अम्बा ने कहा —

"कुण्डलिनी परमशिवेन युक्ता।

(कुण्डलिनी परमशिव के साथ एक हो गई है।)"

लड़के के मुखमण्डल पर आनन्द की स्थिति में होने के लक्षण दिखाई दे रहे थे। उसका शरीर निश्चल था और अम्बा की गोद पर मेरे स्थान से, मैं उसकी श्वासोच्छ्वास को नहीं पहचान सका। इस क्षण में, मेरा स्वप्न समाप्त हो गया और मैं जाग गया।

{ग्रन्थित्रय के स्थानों के बारे में, गुरुजी ने निम्नलिखित बातें कही हैं। लघु-उपनिषदों में कुछ साक्षात् प्रमाण हैं कि ब्रह्म, विष्णु और रुद्र ग्रन्थियाँ क्रमशः सुषुम्ना के निचले छोर पर, छाती पर और भौंहों के बीच हैं, जहाँ पर ही मूलाधार-, अनाहत- और आज्ञा-चक्र स्थित हैं। चूँकि मूलाधार और आज्ञा चक्रों में इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना एकजुट होती हैं, यह समझा जा सकता है कि ग्रन्थित्रय में से पहला और तीसरा इन चक्रों से सम्बन्धित हैं। योग-कुण्डली-उपनिषद् कहता है —

प्रसार्य स्वशरीरं तु सुषुम्ना-वदनान्तरे ॥
ब्रह्म-ग्रन्थिं ततो भित्वा रजोगुण-समुद्भवम् ।
सुषुम्ना-वदने शीघ्रं विद्युल्लेखेव संस्फुरेत् ॥
(योगकुण्डली-उपनिषद् 1.66,67)

सुषुम्ना के मुख में अपने (कुण्डलित) शरीर को सीधा करते हुए और रजोगुण से उत्पन्न ब्रह्म-ग्रन्थि को छेदते हुए, कुण्डलिनी शीघ्रता से सुषुम्ना के मुख के भीतर बिजली की एक लहर जैसी चमकती है।

सुषुम्ना का द्वार मूलाधार पर होता है। अन्य चक्र सुषुम्ना के भीतरी भाग में ऊपर हैं। तो उपनिषद् के अनुसार, ब्रह्म-ग्रन्थि मूलाधार पर है, न कि किसी उच्च चक्र पर या उसके पास।

विष्णु-ग्रन्थिं प्रयात्युच्चैः सत्वरं हृदि संस्थिता ।
उर्ध्वं गच्छति यच्चास्ते रुद्र-ग्रन्थिं तदुद्भवम् ॥
भ्रुवोर्मध्यं तु सम्भिद्य याति शीतांशु-मण्डलम् ।
(योगकुण्डली-उपनिषद् 1.68,69)

(*तदुपरान्त, कुण्डलिनी तेजी से विष्णु-ग्रन्थि की ओर ऊपर बढ़ती है और हृदय में स्थिर हो जाती है। वह ऊपर की ओर भौंहों के मध्य में स्थित रुद्र-ग्रन्थि की ओर बढ़ती है — जिसका मूल वह (आज्ञा-चक्र) है — और इसे भेद करके चन्द्रमण्डल में जाती है।*)

ब्रह्मविद्या-उपनिषद् का कहना है —

ब्रह्म-ग्रन्थिरकारे च विष्णु-ग्रन्थिर्हृदि स्थितः ।
रुद्र-ग्रन्थिर्भ्रुवोर्मध्ये भिद्यतेऽक्षरवायुना ॥ (ब्रह्मविद्या-उपनिषद् 70,71)

*ब्रह्म-ग्रन्थि **अ**-कार (मूलाधार) में है। विष्णु-ग्रन्थि हृदय में स्थित है। रुद्र-ग्रन्थि भ्रूमध्य (आज्ञा-चक्र) में है और वह हंस-वायु के माध्यम से भेदा जाता है।*

परन्तु, हठयोग-प्रदीपिका सूचित करता है और उस पर [श्लोक 4.70, 4.73 और 4.76 पर] ज्योत्स्ना टीका में स्पष्ट कहा गया है कि ब्रह्म, विष्णु और रुद्र ग्रन्थियाँ क्रमशः अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्रों में हैं। ललिता-

सहस्रनाम [के 100-104 नामों] पर अपनी टिप्पणी में भास्कराय के अनुसार, प्रत्येक चक्र के साथ दो ग्रन्थियों की एक जोड़ी जुड़ी हुई हैं — चक्र के नीचे एक एवं उसके ऊपर दूसरि — और ब्रह्म, विष्णु और रुद्र ग्रन्थियाँ तो क्रमशः स्वाधिष्ठान, मणिपूर और अनाहत चक्रों से जुड़ी ग्रन्थियों के जोड़े हैं।

कुण्डलिनी-योग के साधक को कुण्डलिनी को जगाने का प्रयास करना चाहिए और उसके मार्ग में किसी भी बाधा को पार करते हुए, चाहे वह कहीं भी हो, उसे सहस्रार तक ले जाना चाहिए। कुण्डलिनी को एक चक्र से अगले चक्र तक ऊपर उठाने के प्रयत्न के अतिरिक्त, ग्रन्थि भेदन के लिए, मौलिक रूप से, उसे कोई विशेष पग उठाने की आवश्यकता नहीं है। इतना ही नहीं, किसी भी ग्रन्थि से — उदाहरणार्थ, विष्णु-ग्रन्थि से — निपटने का विधान नहीं बदलता है, चाहे वह अनाहत, विशुद्ध या मणिपूर चक्रों से जुड़ा क्यों न हो। इसलिए, ग्रन्थियों के स्थानों के निदेशन में एकरूपता का अभाव आध्यात्मिक साधक के लिए कोई अभ्यासिक समस्या नहीं है।}

मैं - कुछ वर्ष पहले, अपनी युवावस्था में गुरुजी द्वारा देखे गए सात स्वप्नों की शृङ्खला के बारे में गुरुजी ने मुझे बताया था, जिसमें शिव जी ने हठ-योग का प्रदर्शन किया था। उस समय, गुरुजी ने इस प्रकार के अनुभव के बारे में एक स्वप्न का भी उल्लेख किया था। क्या यही वह स्वप्न है?

गुरुजी - हाँ, यही है। मेरी स्मृति में है कि मैंने तब कहा था कि मैं किसी दिन तुम्हें इसके बारे में बताऊँगा।

मैं - क्या गुरुजी को लगा कि अम्बा चाहती थीं कि गुरुजी कुण्डलिनी-योग का अभ्यास एक प्रमुख साधना के रूप में करें?

गुरुजी - नहीं। उस स्वप्न के समय भी, मुझे स्पष्ट रूप से बोध हुआ कि यद्यपि अम्बा स्वयं मुझे योग के इस प्रभेद के बारे में बता रही थीं, तथापि उनका अभिप्राय यह नहीं था कि यह मेरी प्रमुख साधना हो। हालाँकि, जो कुछ मुझे सिखाया गया था, उसे मैंने ऐसा नहीं माना कि मेरे लिए उसकी कोई व्यावहारिक प्रासङ्गिकता नहीं है।

इन दोनों अनुभवों से पहले ही, मैं तीन बन्धों सहित प्राणायाम का अभ्यास कर रहा था। स्वप्न के पश्चात्, मैंने मूलाधार-चक्र का मानसिक चित्रण करने की, उसमें स्थित देवताओं का मुझे दर्शाए गए प्रकार से चिन्तन करने की और फिर कुण्डलिनी की पूजा करने की प्रथा प्रारम्भ की। आगे, मैंने भावना की कि मेरी प्रार्थना के उत्तर में, कुण्डलिनी स्वाधिष्ठान-चक्र की ओर ऊपर बढ़ रही है। मैंने स्पष्ट रूप से उस चक्र का मानसिक चित्रण किया, वहाँ के देवताओं पर ध्यान केन्द्रित किया और कुण्डलिनी की अपनी मानसिक पूजा बनाए रखी। इस प्रकार, मैंने उच्च चक्रों में पूजा को आगे बढ़ाया। सूक्त स्थलों पर, मैंने कुण्डलिनी को देवी पार्वती के रूप में देखा।

मैं - गुरुजी ने किस चक्र में शक्ति को मानसिक रूप से आभरणों से सजाया और किस चक्र में दीपाराधना की?

गुरुजी - मणिपूर और आज्ञा चक्रों में। सहस्रार में, मैंने बस कल्पना की कि शक्ति और शिव एक हो गए हैं।

मैं - क्या गुरुजी किसी विशिष्ट उद्देश्य के साथ नई प्रथा में लगे हुए थे, जैसे कि कुण्डलिनी को जगाना और उठाना?

गुरुजी - नहीं। मैं किसी परिणाम की इच्छा से प्रेरित नहीं था। मेरे द्वारा स्वप्न में आंशिक रूप से देखे गए ध्यान और पूजा ने मुझे आकर्षित किया। इसलिए, मैंने उन्हें श्रद्धापूर्वक करना प्रारम्भ कर दिया।

मैं - गुरुजी ने ऐसे चिन्तन और पूजा में कितना समय लगाया?

गुरुजी - मङ्गलवार और शुक्रवार को, दिन में पन्द्रह से बीस मिनट।

7. आत्मा पर मनन

[1987 सितंबर 5 को बेंगलूरु के शृङ्गेरी शङ्कर मठ में कन्नड़ में गुरुजी द्वारा दिए गए अनुग्रह भाषण के कुछ चुने हुए अंश का मेरे द्वारा किए गए अंग्रेज़ी अनुवाद का भाषान्तर निम्नलिखित है। यह गुरुजी द्वारा परमगुरुजी पर छह प्रवचनों की शृङ्खला में अन्तिम था। मठ में आयोजित "स्मरण सप्ताह" का अवसर था जिसमें अनेक वक्ताओं ने परमगुरुजी के बारे में बात की।]

अपने गुरुजी के साथ नरसिंह वन में रहते हुए, मैं हर सायंकाल शारदाम्बा के दर्शन करने जाया करता था और वहाँ एक घंटे तक रहता था। एक बार, मेरे लौटने पर, उन्होंने (परमगुरुजी ने) मुझसे पूछा, "आप नदी पार कर आए हैं। आपके मन में क्या विचार आया?"

"कौन सा विचार?" मैं अचम्भित हुआ और उत्तर दिया, "कई वस्तुएँ थीं जिन्हें मैंने देखा।"

"नया क्या था?"

"कुछ भी नहीं। जो दिख रहा था मैंने देखा।"

"क्या आपको वह सब कुछ देखना चाहिए जो आपकी दृष्टि की परिधि में है?"

"आँखें मूँद ली जाए तो चलना सम्भव नहीं है।"

"आपको देखते हुए भी नहीं देखना चाहिए।"

"वो कैसे सम्भव है?"

इस पर उन्होंने कहा, "हमें अपना आचरण सदैव ऐसा करना चाहिए —

आत्माम्भोधेस्तरङ्गोऽस्म्यहमिति गमने

{यह भागवतपाद जी की शतश्लोकी में है। पूरा श्लोक है —

आत्माम्भोधेस्तरङ्गोऽस्म्यहमिति गमने भावयन्नासनस्थः
संवित्सूत्रानुविद्धो मणिरहमिति वास्मीन्द्रियार्थ-प्रतीतौ।
द्रष्टा(दृष्टो)ऽस्म्यात्मावलोकादिति शयन-विधौ मग्न आनन्दसिन्धा-
वन्तर्निष्ठो मुमुक्षुः स खलु तनुभृतां यो नयत्येवमायुः॥ (शतश्लोकी 12)

जब गुरुजी ने पहली बार 1980 में इस पद्य के आधार पर अपने को प्राप्त परामर्श के बारे में मुझे बताया, तब उन्होंने कहा कि "द्रष्टाऽस्मि" और "दृष्टोऽस्मि" वैकल्पिक पाठ हैं। परमगुरुजी ने स्वयं उनका उल्लेख किया था।}

"जब हम बैठने की स्थिति से उठकर चलने लगते हैं, तो हमें ऐसी भावना नहीं होनी चाहिए — 'हम चल रहे हैं और कहीं जा रहे हैं।' बड़े सागर में, जो आत्मा है, एक लहर उठी है। वह लहर आगे बढ़ रही है। प्रकल्पना ऐसी है। तरङ्ग और महासागर में कोई अन्तर नहीं है। फिर भी, चूँकि कोई चलता है (और इस प्रकार तरङ्ग के समान आगे बढ़ता है), उसे अपने आप को तरङ्ग के रूप में सोचना चाहिए। जब चलने का अवसर आता है, तब चिन्तन करना चाहिए, 'मैं आनन्द के महासागर में, जो आत्मा है, एक लहर हूँ'।" उनके उपदेश ने मुझे चौंका दिया। उन्होंने आगे कहा, "हर समय, यहाँ तक कि जब आप किसी से बात करते हैं, इस विचार को अपने मन में दोहराएँ। अभ्यास करते करते, व्यक्ति बोलते समय भी इस दोहराव को निर्बाध रूप से बनाए रखता है। अनुभव इसकी पुष्टि करता है।

जब कोई बैठा हो तो उसे क्या सोचना चाहिए? गुरुजी ने उपदेश दिया —

...भावयन्नासनस्थः
संवित्सूत्रानुविद्धो मणिरहमिति वाऽस्मि

ज्ञान के सूत्र में एक मणि पिरोया गया है। उस मणि को हटाया नहीं जा सकता; वह सूत्र अटूट चेतना से बना है। मैं वह मणि हूँ। इस प्रकार चिन्तन करना चाहिए।

...इन्द्रियार्थप्रतीतौ
द्रष्टा(दृष्टो)ऽस्म्यात्मावलोकादिति

जब कोई पदार्थ देखा जाता है, तो मनोवृत्ति ऐसी नहीं होनी चाहिए, "यह वस्तु अब दिखाई दे रही है।" अपितु चिन्तन इस प्रकार होना चाहिए, "अहा! निर्विषय चेतना अब विषयों से जुड़ गई है। आत्मा पहले से ही व्यक्त थी, परन्तु अब इसकी अभिव्यक्ति बढ़ गई है।" एक झटका मिलने पर, हम

शरीर के बारे में स्पष्ट रूप से जागरूक हो जाते हैं न? हमें सामान्यतः अपनी देह के प्रति जागरूकता तो होती है, परन्तु वह जागरूकता तब और बढ़ जाती है जब हमें पीटा जाता है। यहाँ भी कुछ ऐसा ही है। तदनुसार, किसी बाहरी वस्तु को प्रत्यक्ष जानते हुए भी, यह मनन करना चाहिए कि आत्मा का ग्रहणबोध हुआ है।

शयन-विधौ मग्न आनन्दसिन्धौ

यूँ ही न सोएँ। लेटते समय चिन्तन करें, "अब मैं आनन्द-सागर में डूबा हुआ हूँ," और इस भावना के साथ सोना प्रारम्भ करें। यह बहुत अच्छा है। एक ओर ऐसे ही लेटकर सो जाना, तथा दूसरी ओर, लेटते समय अपने मन से सभी विचारों को स्वेच्छा से हटाकर, आनन्द की भावना को पैदा करके, उसी भावना को कुछ मिनटों तक, जब तक सो नहीं जाए, बनाए रखते हुए सो जाना — इन दोनों के बीच के अन्तर को कोई भी परख सकता है। सोने के प्रति इस दृष्टिकोण से जो बड़ा आनन्द मिलता है, वह कुछ दिनों के अनुभव के बाद स्पष्ट हो जाता है।

अन्तर्निष्ठो मुमुक्षुः स खलु तनुभृतां यो नयत्येवमायुः ॥

जो इस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करता है, वह लोगों के बीच, मुक्ति का इच्छुक, अटल अन्तर्मुखी है। इसीलिए चलते, बैठते, खड़े होते और यहाँ तक कि लेटते समय भी, हमें अपने जीवन का सञ्चालन इसी प्रकार करना चाहिए। यही परामर्श मेरे गुरु ने मुझे दिया है।

[*जब 1980 में गुरुजी ने मुझे परमगुरुजी के परामर्श के बारे में बताया, तो उन्होंने निम्नलिखित अधिक जानकारी दी।*]

गुरुजी - जब गुरुजी ने यह स्पष्टीकरण दिया, तो मैं उनके सामने बैठा था। जैसे ही उन्होंने बैठते समय बनाए रखने वाले दृष्टिकोण के बारे में अपना निर्देश पूरा किया था, मैंने उस शिक्षण को तुरन्त अभ्यास में लाने का प्रयास किया। मैंने ऐसा करने में क्षणभर भी विलम्ब करना उचित नहीं समझा। यद्यपि, मैंने तुरन्त यह भावना उत्पन्न की — "मैं चैतन्य के सूत्र में बन्धा एक

मणि हूँ," तथापि मेरे चिन्तन की तीव्रता कम थी। इसका कारण यही था कि मैं उस समय मुख्य रूप से उस पर ध्यान केन्द्रित कर रहा था जो गुरुजी मुझे ग्रहणबोध और नींद से सम्बन्धित दृष्टिकोण के बारे में बता रहे थे। इसके अतिरिक्त, जबकि उस समय मेरे लिए कर्म-योग और जप अयत्नसिद्ध हो गए थे, तथापि ऐसा चिन्तन मेरे लिए नया था। जैसे ही गुरुजी का परामर्श पूरा होने के बाद मैं अपने कक्ष की ओर चला, तब मैं चिन्तन करने लगा, "मैं आनन्दमय-सागर-रूपी आत्मा में एक लहर हूँ।" तब मेरे इस चिन्तन की तीव्रता बहुत श्रेष्ठतर थी।

जबकि गुरुजी ने मुझे जो सिखाया था, उसका अभ्यास करने के लिए मैंने निष्ठा से प्रयास किया, मुझे कुछ कठिनाइयों का अनुभव हुआ। यह चिन्तन कभी-कभी मेरे कर्म-योग से (जिसमें सभी कार्यों और उनके फलों को भगवान को समर्पित करना सम्मिलित हैं) टकराता था। गुरुजी ने दो दिन के बाद यह बताकर इस कठिनाई का समाधान किया, "आपके लिए समय आ गया है कि आप कर्म-योग के स्तर से ऊपर उठें, जिसमें आप पारङ्गत हो चुके हैं। अब आत्मा पर चिन्तन करने के लिए, अपने प्रयासों को निर्देशित करें।"

मुझे एक और कठिनाई यह थी कि यह आत्म-चिन्तन आंशिक रूप से मन्दिर में माताजी की सान्निध्य का आनन्द लेने, मानसिक रूप से नरसिंह जी की पूजा करने में बाधा डालता था। ऐसा इसलिए था क्योंकि मैं बैठे-बैठे ऐसा किया करता था और अब मुझे बैठने पर चिन्तन करने का परामर्श दिया गया था कि मैं चेतना के धागे में बँधा एक रत्न हूँ। गुरुजी ने स्वयं स्पष्ट किया, "यद्यपि एक जीवन्मुक्त (जीवन जीते हुए ही संसार बन्धन से मुक्त) व्यक्ति का आत्म-ज्ञान किसी भी विचार व शारीरिक गतिविधि से अविचलित रहता है, एक आध्यात्मिक साधक के चिन्तन का विषय अलग है। अत:, अभी के लिए, पूर्व की भाँति अपनी मानसिक पूजा और इसी प्रकार की साधना करें और बाकी समय आत्मा पर चिन्तन करें।"

हालाँकि अब मुझे कोई मूलभूत समस्या नहीं थी, फिर भी कभी-कभी मेरा चिन्तन रुकावटों से ग्रस्त था। ऐसे अवरोध मुख्य रूप से मेरे बोलते समय

और मेरे नदी और आसपास की सुन्दरता को देखकर आनन्दित होते समय होते थे। एक सन्ध्या जब मैं गुरुजी की उपस्थिति में गया, तो उन्होंने पूछा, "आप कहाँ से आ रहे हैं?" मैंने उत्तर दिया, "जगन्माता के मन्दिर से।" उन्होंने प्रश्न किया, "मार्ग में आपने क्या देखा?" तुङ्गा पार करते समय मेरे चिन्तन में एक विच्छेद आ गया था। उनके प्रश्न के आशय को समझते हुए, मैंने कहा कि मैंने तुङ्गा में मछलियों को खेलते देखा। गुरुजी का अगला प्रश्न था, "क्या आपने उस समय ठीक चिन्तन किया था?" मैंने स्वीकार किया, "मैं इससे पहले और बाद में सही ढंग से चिन्तन करता था, परन्तु कुछ क्षणों के लिए प्रक्रिया बाधित हो गई।" गुरुजी ने कहा, "ऐसे विच्छेद के लिए कभी स्थान न दें।"

मैंने लज्जा से अपना सिर झुका लिया और सङ्कल्प किया कि मुझे ऐसा निष्प्रयोजक शिष्य नहीं बनना चाहिए। तत्पश्चात्, गुरुजी की कृपा से चिन्तन में ऐसे अवरोध नहीं हुए। कुछ ही महीनों में, चिन्तन के चार प्रकार अयत्नसिद्ध हो गए।

{तत्त्व-ज्ञान और तत्त्व-चिन्तन में अन्तर के बारे में, पञ्चदशी में इस प्रकार कहा गया है —

वस्तुतन्त्रो भवेद्बोधः कर्तृतन्त्रमुपासनम्॥ (पञ्चदशी 9.74)

जानी जाने वाली वस्तु पर ज्ञान निर्भर है; उपासना तो उसे करने वाले व्यक्ति पर निर्भर है।

विचाराज्जायते बोधोऽनिच्छा यं न निवर्तयेत्।
स्वोत्पत्ति-मात्रात्संसारे दहत्यखिल-सत्यताम्॥ (पञ्चदशी 9.75)

विचार से ज्ञान उत्पन्न होता है; इसकी इच्छा न करने से यह रुकेगा नहीं। (तत्त्व के) ज्ञान के उदय से ही, वह बाह्य जगत् की किसी भी सत्यता (का भ्रम) को जला देता है।

पुरुषस्येच्छया कर्तुमकर्तुं कर्तुमन्यथा।
शक्योपास्तिरतो नित्यं कुर्यात्प्रत्यय-सन्ततिम्॥ (पञ्चदशी 9.80)

व्यक्ति की इच्छा के आधार पर चिन्तन या तो किया जा सकता है या नहीं किया जा सकता है या किसी अन्य प्रकार से किया जा सकता है। इसलिए (चिन्तन करने के लिए), उसका नैरन्तर्य बनाए रखने के लिए (चिन्तन के विषय के) विचार को निरन्तर दोहराना चाहिए।

ब्रह्मज्ञानायते साक्षान्निर्गुणोपासनं शनैः। (पञ्चदशी 9.122)

निर्गुण ब्रह्म पर चिन्तन धीरे-धीरे ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान में परिवर्तित होता है।}

मैं - परमगुरुजी ने गुरुजी को "**आत्माम्भोधेः ...**" श्लोक के बारे में किस वर्ष पढ़ाया था?

गुरुजी - आङ्गीरस संवत्सर में (1932 अप्रैल 7 से 1933 मार्च 27 तक)।

मैं - चिन्तन स्वाभाविक कब हुआ?

गुरुजी - (कुछ पल सोचने के बाद) श्रीमुख संवत्सर में मेरे जन्मदिन (आश्विन-कृष्ण-चतुर्दशी) से कुछ समय पहले यह हुआ था।

{श्रीमुख वर्ष में (1933-34) 1933 अक्टूबर 18 को गुरुजी ने 16 वर्ष की आयु पूरी की।}

[*पहले उद्धृत किए गए प्रवचन के समय, गुरुजी ने परमगुरुजी की निम्नलिखित शिक्षाओं का विस्तार से वर्णन किया। मुझे 1988 में गुरुजी से पता चला कि यह शिक्षा भी आङ्गीरस संवत्सर में दी गई थी।*]

मेरे परमगुरु (परमपूज्य श्री सच्चिदानन्द शिवाभिनव नृसिंह भारती स्वामी जी) को हर प्रदोष के दिन आत्म-विद्या-विलास पढ़ने में बहुत आस्था थी। मेरे गुरुजी (परमपूज्य श्री चन्द्रशेखर भारती स्वामी जी) का भी यही अभ्यास था। उस रचना के श्लोकों पर अनुसन्धान अत्यधिक मात्रा तक आत्मा का अनुभव देता है।

{आत्म-विद्या-विलास आर्या-छन्द में रचित महान जीवन्मुक्त और योगी, श्री सदाशिव-ब्रह्मेन्द्र जी के भावविभोर उद्गार है।}

(**गुरुजी** -) मेरे गुरु के जीवनकाल में, यदि मैं किसी भी प्रदोष पर आत्म-विद्या-विलास को पढ़ने से चूकता था, तो गुरुजी मुझसे पूछा करते थे कि क्या मैंने इसे पढ़ा है, और फिर मुझे पढ़ने के लिए कहते थे। एक बार, उन्होंने मुझे निम्नोक्त श्लोक का अर्थ बताने के लिए कहा —

जनि-विपरीत-क्रमतो बुद्ध्या प्रविलाप्य पञ्च-भूतानि।
परिशिष्टमात्मतत्त्वं पश्यन्नास्ते मुनिश्शान्तः॥

(आत्म-विद्या-विलासः 11)

(बुद्धि द्वारा, पञ्च-भूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) को उनकी उत्पत्ति के प्रतिलोम क्रम में विलीन कर, अवशेष आत्मतत्त्व को देखते हुए, मुनि शान्त रहता है।)

'**प्रविलाप्य पञ्चभूतानि**' का अर्थ है, "पञ्च-भूतों को विलीन करके"। (पृथ्वी-तत्त्व परिणाम) शक्कर को (जल में) विलीन किया जा सकता है, परन्तु (चीनी जैसे पृथ्वी के ही परिणाम) पत्थर, मिट्टी, कपड़े आदि को घुलाया नहीं जा सकता। सतही रूप से ऐसा जाना जा सकता है। इसे पहचानते हुए, मेरे गुरुजी ने स्वयं इस अभिप्राय की व्याख्या की। उन्होंने (भगवत्पाद जी के ब्रह्मानुचिन्तन से) निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया —

पृथिव्यप्सु पयो वह्नौ वह्निर्वायौ नभस्यसौ।
नभोऽप्यव्याकृते तच्च शुद्धे शुद्धोऽस्म्यहं हरिः॥

(ब्रह्मानुचिन्तनम् 12)

(पृथ्वी को जल में, जल को अग्नि में, अग्नि को वायु में और वायु को आकाश में विलीन करना चाहिए। आकाश को तो पञ्च-भूतों के अव्यक्त कारण में विलीन करना है, और उस अव्यक्त को शुद्ध परब्रह्म में विलीन करना है। मैं वह शुद्ध परतत्त्व हूँ, जो सभी को घुल देता है।)

कीचड़ जल में नहीं घुलता। तथापि, यह वह विलय नहीं है जिसके बारे में बात की गई है। और क्या? ब्रह्माण्ड के पाँच तत्त्वों की उत्पत्ति के विपरीत क्रम में, एक कार्य अपने कारण में विलीन हो जाता है; वह कारण, फिर अपने कारण में विलीन हो जाता है।

{गुरुजी ने आगे इस प्रकार स्पष्ट किया है। पृथ्वी का अपने कारण, जल, के अतिरिक्त कोई अस्तित्व नहीं है, जैसे घड़े का अपने कारण, मिट्टी, के अतिरिक्त कोई अस्तित्व नहीं रहता। यह वह बोध है जो जल में पृथ्वी के विलय को दर्शाता है, जिसके बारे में ब्रह्मानुचिन्तन के श्लोक में कहा गया है और आत्म-विद्या-विलास के छंद में लक्षित किया गया है। जल का, अपनी बारी में, अपने कारण, अग्नि, के अतिरिक्त कोई अस्तित्व नहीं है। यह बोध अग्नि में जल के विलय का सङ्केत है।}

अन्ततः, विलयन प्रक्रिया के अवशेष के रूप में, केवल आत्मा बनी रहती है, जो परम कारण है। यह आत्मा का ऐसा ज्ञान है जो इन शब्दों में निर्दिष्ट किया गया है —

परिशिष्टमात्मतत्त्वं पश्यन्

आत्मा का परम अवशेष के रूप में चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार के चिन्तन का फल क्या है?

{ब्रह्मानुचिन्तन में कहा गया है —}

क्षणं ब्रह्माहमस्मीति यः कुर्यादात्म-चिन्तनम्॥
तन्महापातकं हन्ति तमः सूर्योदयो यथा। (ब्रह्मानुचिन्तनम् 9,10)

(यदि एक पल के लिए भी, कोई व्यक्ति अपनी आत्मा के बारे में सोचता है, "मैं ब्रह्म हूँ," तो वह विचार उसके बड़े से बड़े पाप को मिटा देता है, जैसे सूर्योदय अन्धकार को दूर करता है।)

उन्होंने मुझे परामर्श दिया, "(आत्म-विद्या-विलास में) सिखाए गए प्रकार से चिन्तन करें।" उन्होंने अपनी व्याख्या से, उसके बारे में अभिरुचि पैदा की।

8. गहन ध्यान का आरम्भ

[1976 जून में निम्नलिखित संवाद शृङ्गेरी में हुआ। ध्यान को सुगम बनाने की एक प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए, जो गुरुजी ने मुझे तीन वर्ष पहले सिखाई थी, मैंने पूछा कि क्या इसके उपयोग का लाभ ध्यान के सभी अभ्यासियों द्वारा लिया जा सकता है। गुरुजी ने नकारात्मक उत्तर दिया। उन्होंने कहा कि अपने विचार में, एक गुरु द्वारा निर्दिष्ट किए जाने पर ही इसका अभ्यास किया जाना चाहिए। जिनके लिए यह अनुचित है, उन्हें इसका लाभ नहीं मिलेगा। इतना ही नहीं, वे नकारात्मक प्रभावों का भी अनुभव कर सकते हैं, जैसे कि निम्न स्तर का ध्यान और शिरोवेदना। गुरुजी ने आगे कहा कि जब वे छोटे थे, तब परमगुरुजी ने उन्हें यह प्रक्रिया सिखाई थी।]

मैं - क्या गुरुजी कृपा करके मुझे परमगुरुजी की शिक्षाओं और उसे गुरुजी द्वारा अभ्यास में लाने का विवरण बताएँगे?

गुरुजी - एक प्रातः, जब गुरुजी के आह्निक के समय मैं उनको अपना नमस्कार समर्पित करने गया, तो उन्होंने मुझसे पूछा, "आपके आह्निक में आप विभिन्न जप करते समय, ध्यान-श्लोक के अनुसार देवता का ध्यान करते हैं न?" मैंने उत्तर दिया, "हाँ, मैं ऐसा ही करता हूँ।" उन्होंने प्रश्न किया, "आप कैसे आरम्भ करते हैं?" प्रश्न का महत्त्व मेरे लिए स्पष्ट नहीं था, क्योंकि मुझे हृदय-कमल में एक दिव्य रूप की कल्पना करने के लिए किसी विशेष उपक्रम के बारे में पता नहीं था। मैंने उत्तर दिया, "मैं जपमाला लेता हूँ और अपने नेत्र आंशिक रूप से अथवा पूर्णतः खुले रखते हुए, जप आरम्भ करता हूँ। साथ ही, मेरे सीने में स्थित आठ पंखुड़ियों वाले लाल कमल में मैं ध्यान-श्लोक में वर्णित आकार की कल्पना करता हूँ।"

गुरुजी ने कहा, "जब ध्यान करने बैठते हैं, तो आपका मन नहीं भटकता। हालाँकि, आप अपने शरीर और परिवेश से अवगत हैं। क्या यह सही है?" मैंने कहा, "हाँ।" उन्होंने पूछा, "अपने आह्निक की आवश्यकताओं के अतिरिक्त, क्या आप दिव्य रूपों पर गहन ध्यान का अभ्यास करना चाहेंगे?" मैंने ऐसा करने के लिए अपनी उत्सुकता व्यक्त की।

मुझे बैठने का निर्देश देने के बाद, गुरुजी ने मुझसे कहा, "मैं आपको एक सरल विधि बताऊँगा जो आपको कोई भी ध्यान प्रारम्भ करने में सहायता करेगी, जो आप करना चाहते हैं। ध्यान के समय, आपको माला का उपयोग करने की कोई आवश्यकता नहीं है। सीधे देवता को अपने हृदय में चित्रित करने की अपेक्षा, पहले अपनी दृष्टि को भौहों के बीच में निर्देशित करें। ऐसा करते समय, आप प्रणव जैसे मन्त्र का जाप कर सकते हैं।" तत्पश्चात्, गुरुजी ने अपनी आँखों को अपने भौंहों के बीच के स्थान पर केन्द्रित किया। वे कुछ क्षण वैसे ही रहे।

{इस स्तर पर, गुरुजी ने उसका प्रदर्शन किया जो परमगुरुजी ने किया था।}

(**गुरुजी** -) फिर उन्होंने कहा, "पलकों को आंशिक रूप से बन्द करके भी, आँखों को ऊपर की ओर मोड़ा जा सकता है। मैंने इसे अधिक सुविधाजनक, परन्तु उतना ही प्रभावी, पाया है। आप भौंहों के बीच झुनझुनी अनुभव करेंगे। उस क्षेत्र में मानसिक रूप से कुछ समय के लिए प्रकाश को देखने के बाद, उस दिव्य रूप को चित्रित करें, जिस पर आप ध्यान करना चाहते हैं। फिर, उस रूप पर ध्यान केन्द्रित करें। जब आपका मन करता है, तब आप अपने सामान्य जप के समय भी किसी रूप पर ध्यान करने में, इस पद्धति का उपयोग कर सकते हैं।" मेरे मन में एक प्रश्न उठा — "कुछ समय के लिए भौंहों के बीच दृष्टि को केन्द्रित करने से पहले और बाद में एक रूप को चित्रित करने में क्या अन्तर है?" अन्य कुछ प्रश्न इस बारे में थे कि मैं भौंहों के बीच किस प्रकार का प्रकाश देखूँगा और क्यों? हालाँकि, चूँकि गुरुजी ने एक जप प्रारम्भ किया था, मैंने उन्हें प्रस्तुत नहीं किया।

गुरुजी ने मुझे जो सिखाया था, उसका अभ्यास करने का निर्णय लेते हुए, मैं कुछ समय बाद शारदाम्बा के मन्दिर गया। वहाँ, मैं गर्भगृह के पास शारदाम्बा की ओर मुँह करके बैठ गया। जैसे ही मैंने मूर्ति को देखा, तेल के दीयों के प्रकाश में मुख पर एक आभूषण चमका। जहाँ मैं बैठा था, वहाँ से वह नीला दिखाई दे रहा था। जब मैंने अपना मुख का स्थान थोड़ा सा बदला, तो वह हरा दिखाई दिया। शारदाम्बा के रत्नों को विभिन्न रंगों में चमकते बहुत से लोग देख चुके होंगे। कुछ समय के लिए नीला प्रकाश

देखने के बाद, मैंने अपनी पलकें आधी बन्द कर लीं और अपनी आँखों को अपने भौंहों के बीच के स्थान पर निर्देशित किया। साथ ही, मैंने मानसिक रूप से बार-बार धीमे, लम्बे प्रकार से प्रणव का जाप किया।

कुछ ही क्षणों में, मैं अपनी भौंहों के बीच झुनझुनी अनुभव कर रहा था। धीरे-धीरे इसकी तीव्रता में वृद्धि हुई। मुझे एक आकर्षक नीले प्रकाश का चक्र भी दिखाई देने लगा। यह माताजी के मुख पर स्थित रत्न के प्रकाश के समान था। परन्तु मुख्य अन्तर यह था कि यह फैला हुआ था। तब मैंने चक्र से उभरती हुई और मेरे हृदय-कमल पर विराजमान उनकी मूर्ति के एक छोटे संस्करण की कल्पना की। मेरे हृदय में आकृति की बड़ी स्पष्टता और जितनी आसानी से उस रूप को चित्रित करने में मैं सक्षम था — उनसे मुझे प्रसन्नतापूर्वक आश्चर्य हुआ। मैंने रूप पर ध्यान केन्द्रित किया। प्रणव का मेरा जप रुक गया।

क्षण भर बाद, मैंने अपनी आँखें खोलीं। वास्तव में, लगभग आधा घंटा बीत चुका था। उस समय, मैं परिवेश और अपने शरीर से अचेत था। मुझे बोध हुआ कि गुरुजी द्वारा सिखाई गई प्रक्रिया को अपनाए बिना, किसी रूप को चित्रित करना पूर्ण रूप से सम्भव है, परन्तु गुरुजी की प्रविधि, रूप का चित्रण और उस पर ध्यान केन्द्रित करने की सुविधा प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त, मैं समझ गया कि मानसिक रूप से देखे गए प्रकाश का सम्बन्ध, भौंहों के बीच के स्थान पर टकटकी लगाने से पहले देखे जाने वाले प्रकाश से हो सकता है।

उस दिन सन्ध्याकाल, मैं कालभैरव मन्दिर गया। मूर्ति के सामने दण्डवत् करके, मैं पूर्व की ओर मुँह करके बैठ गया। अपने सामने, मैं स्पष्ट नीला आकाश देख सकता था। मैंने आंशिक रूप से बन्द पलकों के साथ अपनी दृष्टि को भौंहों के बीच में निर्देशित किया। साथ ही, मैंने बाला मन्त्र का मानसिक जाप किया। इस बार, झुनझुनी के प्रारम्भ के बाद, मैंने नीले रंग का एक चमकदार विस्तार देखा। प्रारम्भ में, मैंने अपने सीने में हृदय-कमल को खिले हुए चित्रित किया। फिर, मैंने इस प्रकार कल्पना की कि '**अरुणकिरणजालैः...**' ध्यान-श्लोक में वर्णित बाला का रूप नीले प्रकाश से

संघनित होकर मेरे हृदय में प्रवेश कर रहा है। रूप स्पष्ट था। मेरा जप तो अपने आप बन्द हो गया। इस बार भी, मैंने अपने शरीर और परिवेश के बारे में भान खो दिया। मैं 45 मिनट तक ध्यान में रहा।

{बाला-त्रिपुरसुन्दरी मन्त्र है —

ऐं क्लीं सौः सौः क्लीं ऐं।

गुरुजी द्वारा उद्धृत ध्यान-श्लोक यह है —

अरुणकिरणजालैरञ्चिताशावकाशा
विधृत-जपपटीका पुस्तकाभीतिहस्ता।
इतरकर-वराढ्या फुल्लकल्हार-संस्था
निवसतु हृदि बाला नित्यकल्याण-शीला॥

(बाला-त्रिपुरसुन्दरी मन्त्र का ध्यान श्लोक)

सदैव मङ्गलमयी, खिले कमल में निवास करने वाली, जो सुनहरी किरणें फैलाती हैं और अपने हाथों में माला, पुस्तक तथा अभय-मुद्रा एवं वरदान-मुद्रा धारण की हैं — वे बाला सर्वदा हृदय में विराजमान रहे।}

इन दोनों अवसरों पर, भौंहों के बीच मानसिक रूप से दिखा गया प्रकाश पहले के बाहर देखे गए प्रकाश से मिलता जुलता था। मैंने यह परीक्षण करने का निर्णय लिया कि क्या मैं मानसिक रूप से किसी भी प्रकार का प्रकाश देख पाऊँगा और, यदि हाँ, तो अगर मैं अन्धेरे स्थल में अपना ध्यान प्रारम्भ करूँ, तो वह प्रकाश किस प्रकार का होगा। इसलिए, उस रात, मैं लगभग दो बजे उठा। बैठे हुए आसन में, मैंने मानसिक रूप से प्रणव का जाप करते हुए, अपनी टकटकी को भौंहों के बीच निर्देशित किया। मुझे तुरन्त वहाँ एक झुनझुनी लगी। कुछ ही क्षणों में, मैंने शारदाम्बा के मन्दिर में जो कुछ देखा था, उसके समान नीले प्रकाश का एक चक्र मैं देख पा रहा था। मैं आगे नहीं बढ़ा। मैंने तर्क किया कि भौहों के बीच के प्रकाश का मानसिक चित्रण करने के लिए, किसी का पूर्व अनुभव आधार बन सकता है। किसी बाहरी प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। फिर, मैं लेट गया और सो गया।

अगले दिन, मैंने जाँच की कि क्या मैं ध्यान से पहले देखे गए रंग के प्रकाश को ही अनिवार्य रूप से देखूँगा। इसके लिए, मैं सायंकाल के सूर्य की ओर मुख करके बैठ गया और अपना ध्यान करने लगा। तब जो प्रकाश दिखाई दिया, नारंगी नहीं, प्रत्युत नीला था। मैं समझ गया कि पिछला अनुभव एक बलवत्तर कारक हो सकता है। मैंने यह मान लिया कि एक व्यक्ति, पहली बार, वह रंग भी देख सकता है जिसे वह देखने की अपेक्षा करता है, और उसके बाद, यह अनुभव आगामि अनुभवों को प्रभावित कर सकता है। अगले कुछ दिनों में, मुझे न केवल नीला, अपितु हरा प्रकाश भी दिखाई दिया। प्रभा के विस्तार, आकृति, और तीव्रता सदैव समान नहीं थे। हालाँकि, इस प्रकार के भेदों ने, दिव्य रूप के मेरे आगामी चित्रण पर और उस पर एकाग्रता पर कोई असर नहीं डाला।

इस अवधि में, मैंने उन सम्भावित कारणों पर भी विचार किया कि नई प्रक्रिया ने एकाग्रता को क्यों सरल कर दिया। मैं न केवल अपने अनुभव से अपितु दूसरों को देखने से भी जानता था कि आँखे न केवल तब चलती हैं जब कोई जानबूझकर अपनी दृष्टि हिलाता है, प्रत्युत अनजाने में भी जब कोई ऐसी वस्तु को देख रहा होता जो छोटी नहीं होती और जब कोई सोचता है। संन्यास से पहले, मैंने देखा था कि जिस व्यक्ति की पलकें बन्द हैं और जो सो रहा है, उसकी भी आँख की पुतलियाँ हिल सकती हैं, और तेज़ी से भी। मैंने अनुमान लगाया कि ऐसी गती स्वप्नों से जुड़ी है। अब मैं जानता हूँ कि स्वप्न देख रहे लोगों में आँखों की गति वैज्ञानिकों द्वारा दर्ज की गई है। मैंने तर्क किया कि चूँकि आँखों की गति अवधान के स्थानान्तरण से जुड़ी होती है, तो भौहों के बीच में स्थिरता से देखने से आँखों की गती को रोकना, ध्यान को एकाग्र बनाने में सहायता कर सकता है। श्वास के संयमन से चित्त के नियन्त्रण का सादृश्य मेरे मन में आया।

जब कोई चींटी या मच्छर काटता है, तो व्यक्ति का अवधान काटे गए स्थल पर जाता है। शेष शरीर को क्षण भर में, अधिक या कम मात्रा में, उपेक्षित किया जाता है। इसी प्रकार, भौंहों के बीच उत्पन्न होने वाली झुनझुनी या मन्द पीड़ाकर संवेदना, आसपास और शरीर के बाकी भागों से अवधान

हटाने में सहायता कर सकती है। यह एक और कारण था जो मेरे मन में आया।

कोई अपनी आँखे खोलकर भी आराम से जप कर सकता है। हालाँकि, किसी से बात करते समय, किसी मन्त्र को मानसिक रूप से दोहराते रहने के लिए, कुछ अभ्यास की आवश्यकता होती है। इससे ज्ञात होता है कि दृश्य गतिविधि की अपेक्षा, एक मौखिक क्रिया दूसरी समकालीन मौखिक क्रिया के साथ विशेष रूप से हस्तक्षेप करती है। इसलिए, भौंहों के बीच के स्थान को देखते हुए मन्त्र का मानसिक जाप करने से, वहाँ के प्रकाश का दर्शन बाधित नहीं होना चाहिए। हालाँकि, वह किसी वार्तालाप के बारे में सोचने, या मानसिक रूप से स्वयं से बात करने एवं इस प्रकार विचलित हो जाने पर अङ्कुश डाल सकता है। इसी प्रकार, कुछ दृश्य स्थितियों के अनुस्मरण या कल्पना से व्यक्ति के विचलित होने के विरुद्ध, भौंहों के बीच प्रकाश की धारणा काम करनी चाहिए। मैंने सोचा कि इन दो प्रकारों से भी, ध्यान लगाने में यह प्रक्रिया सहायक हो सकती है।

उस समय, मैंने यह नहीं सोचा कि क्या यह प्रासङ्गोचित है कि आज्ञा-चक्र उस क्षेत्र में स्थित है, जिस ओर आँखें निर्देशित हैं। कुछ भी हो, मेरा विश्वास था कि मेरे लिए प्रविधि की प्रभावशीलता का प्राथमिक कारण यह था कि गुरुजी ने अपने आशीर्वाद और कृपा से मुझे यह सिखाया था।

मैं - क्या गुरुजी ने अपने प्रातःकालीन आह्निक के समय किए जाने वाले प्रत्येक जप से पहले, इस पद्धति का उपयोग करना प्रारम्भ कर दिया था?

गुरुजी - सभी के साथ नहीं, प्रत्युत दो या तीन के साथ। नारायण-अष्टाक्षरी जप प्रारम्भ करने से पहले, मैंने नियमित रूप से इसका उपयोग किया। अन्य मन्त्रों के विषय में, मैंने एक दिन एक मन्त्र से पहले और दूसरे दिन दूसरे मन्त्र से पूर्व, इसका प्रयोग किया।

{नारायण-अष्टाक्षरी मन्त्र है —

ॐ नमो नारायणाय।

ॐ। नारायण को नमन।

इस मन्त्र का जप न केवल शृङ्गेरी शारदा पीठ के पीठाधीश्वरों के आह्निक का एक अङ्ग है, प्रत्युत अन्य परमहंस-संन्यासियों के भी।}

मैं - जहाँ गुरुजी द्वारा जपमाला का उपयोग कर जप की गिनती की जाती थी, वहाँ इस विधि से क्या लाभ हुआ?

गुरुजी - तत्तत् ध्यान श्लोकों में वर्णित रूपों के चित्रण को सुगम बनाया गया। हालाँकि, माला के उपयोग की आवश्यकता के कारण, मैंने इतनी तीव्रता से रूपों पर ध्यान नहीं दिया, ताकि मैं शरीर और परिवेश को भूल जाऊँ। इसके अतिरिक्त, मैंने यह सुनिश्चित किया कि मेरे मन्त्रों के जाप में एक तात्कालिक विराम भी न हो।

{1980 में गुरुजी ने मुझे बताया — जैसा कि पहले उल्लिखित है — कि परमगुरुजी ने उन्हें आङ्गीरस संवत्सर में आत्मा पर चिन्तन के बारे में निर्देश दिया था। उन्होंने यह भी कहा कि इस प्रकार का चिन्तन श्रीमुख संवत्सर में उनके जन्मदिन के कुछ दिन पहले (1933 अक्टूबर 18 को उन्होंने 16 वर्ष पूरे किए थे) सहज हो गया था। तदनन्तर, मैंने गुरुजी से पूछा कि क्या परमगुरुजी ने उन्हें आत्म-चिन्तन के स्वाभाविक होने से पूर्व अथवा बाद में, भौहों के बीच के स्थान पर टकटकी लगाने की प्रक्रिया सिखाई थी। गुरुजी ने उत्तर दिया, "उन्होंने मुझे कुछ महीने बाद यह सिखाया, श्रीमुख संवत्सर की समाप्ति से एक या दो महीने पहले।" श्रीमुख संवत्सर 1934 मार्च 15 को समाप्त हुआ।}

9. दिव्य रूपों पर ध्यान और समाधि

[निम्नलिखित वार्तालाप 1981 के मार्च महीने में शृङ्गेरी में हुआ। यह कालभैरव मन्दिर से प्रारम्भ हुआ, वहाँ से गुरुजी के निवास, सच्चिदानन्द-विलास के रास्ते में चलता रहा, और सच्चिदानन्द-विलास में समाप्त हुआ जब गुरुजी अपने सायंकालीन स्नान के लिए गए। एक सन्ध्याकाल, गुरुजी नरसिंहवन में एक पहाड़ी की चोटी पर स्थित निर्जन कालभैरव मन्दिर में पैदल गए। जैसा कि वे कई बार किया करते थे, वे मुझे भी अपने साथ ले गए। वहाँ भगवान के सामने प्रणाम करने के बाद, वे पूर्व की ओर मुख करके बैठ गए। खुले द्वार से गगन दिखाई दे रहा था। मुझे बैठने का निर्देश देने के बाद, उन्होंने कहा, "आओ, हम कुछ समय के लिए (योग की पराकाष्ठा) निर्विकल्प-समाधि में रहें।"

इसके बाद, गुरुजी ध्यान करने लगे। जैसा अतीत में हुआ था, केवल उनकी सान्निध्य एवं कृपा के प्रभाव से, मैं स्वतः ही अवर्णनीय, अद्वितीय आनन्द में पूर्णतः लीन हो गया। जब मुझे पुनः शरीर की जागरूकता हुई और मैंने अपनी आँखें खोलीं, तो मैंने देखा कि गुरुजी भी अपनी आँखें खोल रहे थे। अतीत में भी, जब भी उन्होंने मुझे अपने साथ ध्यान करने के लिए कहा था, उन्होंने करुणापूर्वक यह सुनिश्चित किया था कि मैं समाधि से तभी उभरूं जब वे उभरे थे। गुरुजी कुछ समय तक मौन रहे। फिर, उन्होंने कहा, "यह वही स्थल है जहाँ मैंने पहली बार सन्ध्या के समय ध्यान करना प्रारम्भ किया; यहीं पर मुझे पहली बार (योग का एक उन्नत स्तर, जो निर्विकल्प-समाधि से पूर्ववर्ती) सविकल्प-समाधि का अनुभव हुआ।" मैंने गुरुजी से अनुरोध किया कि उनकी सविकल्प-समाधि की प्राप्ति और वहाँ तक के अपने ध्यानाभ्यास के बारे में मुझे बताएँ। गुरुजी ने ऐसा करने की कृपा की।]

गुरुजी - गुरुजी ने मुझे ध्यान प्रारम्भ करने का विधान सिखाया। उसके बाद, मैं हर दिन ध्यान करने लगा। जिस दिन मैंने भौहों के बीच टकटकी लगाने के बारे में सीखा, उस दिन मैंने प्रातःकाल शारदाम्बा पर और सायंकाल बाला-त्रिपुरसुन्दरी पर ध्यान किया। शारदाम्बा का मन्दिर अत्यन्त पवित्र स्थल होने के कारण, मैंने माँ के गर्भगृह के पार्श्व में अपना गम्भीर

ध्यानाभ्यास आरम्भ किया। उस समय, मेरे परिचारक और मन्दिर के कर्मचारियों के अतिरिक्त, वहाँ मन्दिर में और कोई नहीं था। तब से, मैं सामान्यतः एकान्त में ध्यान करता था।

गुरुजी की शिक्षा से लगभग एक पखवाड़े पहले, एक दुरूह शक्ति से प्रेरित, मैं प्रातःकाल बाला-त्रिपुरसुन्दरी मन्त्र का लम्बे समय तक जप कर रहा था। खुली आँखों से ऐसे जप में लगे हुए, मैंने कुछ दिन उनकी आकृति की कल्पना की थी, जैसे मेरे हृदय में बैठी हो, और उसी दिशा में देख रही हो जैसा मैं। कुछ दूसरे दिन, मैंने उसी आकृति की विशालतर मूर्ति की कल्पना की थी, जैसे मेरे समक्ष और मेरे अभिमुख हो। बाला के मन्त्र और उनके रूप पर जो विशेष अवधान मैं दे रहा था, उसने मुझे उन पर ध्यान करने के लिए प्रेरित किया जब मैंने यहाँ (कालभैरव मन्दिर में) पहली बार ध्यान किया था।

प्रारम्भ में, मैंने दिन में दो बार ध्यान किया — अपराह्न में अपने कक्ष में और यहाँ (कालभैरव मन्दिर में) सन्ध्या के समय। प्रातराह्निक के ठीक पहले अथवा तुरन्त बाद ध्यान करने और सामान्य समय से पहले मेरे प्रातःस्नान करने का विचार मुझे अच्छा लगा। हालाँकि, मैंने इसे दो सप्ताह तक लागू नहीं किया। इसका कारण यह था कि मैं उस समय, अपने ध्यान की अवधि का पूर्वानुमान लगाने अथवा नियन्त्रित करने की स्थिति में नहीं था। मैं प्रातःकालीन आह्निक के बाद, गुरुजी के यहाँ नमस्कार करने जाता था और अनजाने में भी बहुत समय तक ध्यान करने के कारण, इसमें विलम्ब की सम्भावना से बचना चाहता था।

ध्यान की अवधि के पूर्वानुमान और नियमन के सम्बन्ध में, मैंने सोचा, "जब मैं शरीर और परिवेश के बारे में जागरूकता खो बैठता हूँ और मेरा मन दिव्य आकार पर लग जाता है, तब मुझे समय बीतने के बारे में कोई जानकारी नहीं होती। इसलिए, मैं इस स्थिति में नहीं हूँ कि मैं यह तय कर सकूं कि मैं और कितने समय तक ध्यान करता रहूँ। गहरी नींद की अवधि में भी, मैं समय बीतने से अचेत हूँ और यह निर्धारित करने की स्थिति में नहीं हूँ कि उस अवस्था में और कितने समय तक रहूँ। फिर भी, ऐसा नहीं है कि मेरी

नींद की अवधि पूर्ण रूप से अप्रत्याशित है। इसके अतिरिक्त, ऐसा नहीं है कि मैं अपनी नींद की सामान्य अवधि को स्वयं नहीं बदल सकता।

"अभ्यास इसको प्रभावित करता है कि कोई व्यक्ति रात में कितनी देर तक सोता है। अन्य कारक पहले जैसे होते हुए, वह रात में सामान्य रूप से जितने घंटे सोता है, उतने घंटे सोने की सम्भावना है। इसके अतिरिक्त, यदि उसे प्रतिदिन अपराह्न में आधे घंटे सोने का अभ्यास है, तो उस आधे घंटे की नींद के बाद अपने आप जागने की सम्भावना है। सम्भवतः, यदि मैं प्रतिदिन निर्धारित समय के लिए प्रातः, अपराह्न और सायंकाल ध्यान करता, तो उन अवधियों के अन्त में, मेरा मन स्वतः ही गहन ध्यान से निकल आ जाएगा। जैसे कोई फिर से सो जाना चुन सकता है, मुझे गहरी एकाग्रता की स्थिति में वापस जाने में सक्षम होना चाहिए। कुछ दिनों तक ऐसा करने से, मुझे उस समय को बढ़ाने में सक्षम होना चाहिए जिसके पहले ध्यान की गहराई कम हो जाती है।

"जब किसी रात, मैं सोने से पहले यह निश्चय कर लेता हूँ कि मुझे एक निर्धारित समय पर उठना है, तो मैं उस समय अपने आप जागता हूँ, भले ही मैं उस रात सामान्य से बहुत कम सोया हूँ। वैसे ही, मुझे ध्यान के एक सत्र की अवधि को, ध्यान प्रारम्भ करने से पहले उस अवधि के बारे में एक सङ्कल्प करके, प्रभावित करने में सक्षम होना चाहिए।"

पहले दो सप्ताह के मेरे अनुभव इस विश्लेषण के अनुरूप रहे। तब मुझे विश्वास हो गया कि मैं अपने ध्यान की अवधि का पूर्वानुमान लगा सकता हूँ एवं उसे नियन्त्रित कर सकता हूँ, और इसलिए, गुरुजी के दर्शन के लिए जाने से पहले ही, गहन ध्यान में बैठने के बारे में, मुझे कोई प्रावरोध नहीं था। अतः मैं अपना प्रातःकालीन आह्निक अनुष्ठान प्रारम्भ करने से पहले, नियमित रूप से ध्यान करने लगा; इसके अतिरिक्त, मैं पहले जैसे अपराह्न और सन्ध्याकाल में ध्यानाभ्यास करता रहा।

संन्यासी बनने से पहले, मैंने एक व्यक्ति को यह कहते हुए सुना था — "मैं अपनी आँखों की जाँच कराने गया था। मेरे सामने कुछ दूरी पर, कुछ नाना

आकार के अक्षर छपा हुआ एक चार्ट था। मैंने पाया कि नीचे के अक्षर धुंधले और अपठनीय थे। डॉक्टर ने मुझ पर एक चश्मे की फ्रेम लगाई। मुझे तुरन्त लगा कि मैं अक्षर अधिक स्पष्टता से देख सकता था और यह बात मैंने डॉक्टर को बताई। मुझे आश्चर्य हुआ जब डॉक्टर ने मन्दहास सहित कहा कि फ्रेम में लेंस लगाना शेष है।" कुछ समय बाद, केवल विनोद के लिए मैंने सोचा था, "मैं यह कल्पना करूँ कि मार्ग पर मेरे सामने एक पत्ता है।" कुछ सेकंड़ के लिए ऐसा करने के बाद, अधिकाधिक यथाशक्ति दृढ़ प्रतीति के साथ, मैंने अपने आप से कहा था, "वहाँ एक पत्ता है, जिसे मैं देख रहा हूँ।" इससे, किसी प्रकार मानसिक चित्रण बनाना सुगम हो गया था।

यह सब स्मरण करते हुए, मैंने तर्क किया, "इसके बदले कि किसी वस्तु की कल्पना करने का प्रयास करें और उसकी भावना बनाए रखें, यह श्रेष्ठतर होगा कि ध्येय वस्तु को हृदय में उपस्थित और बाह्य वस्तु के समान प्रत्यक्ष समझें। सचमुच, ईश्वर सब के हृदय में विद्यमान हैं और, स्वरूपतः निराकार होते हुए भी, अपने भक्त के लिए साकार रूप में प्रकट हो सकते हैं। मन्त्रों में अपने देवताओं को प्रकट करने की शक्ति होती है। ध्यान-श्लोक उन मन्त्रों से जुड़े देवताओं के दिव्य रूपों का वर्णन करते हैं। ऋषियों ने मन्त्रों का जाप किया, उन विहित दिव्य रूपों पर ध्यान किया और परिणामस्वरूप, उचित समय पर, उन्हीं रूपों सहित भगवान का प्रत्यक्ष दर्शन पाया। इस प्रकार, यह अनुभव करने के लिए एक और अतिरिक्त समर्थन है, 'ईश्वर मेरे हृदय में शास्त्र-निर्धारित रूप में सचमुच विराजमान हैं, जिसमें मैं उनका ध्यान करता हूँ।' इसके अतिरिक्त, किसी काल्पनिक माने जाने वाले रूप की तुलना में, दिव्य और वास्तविक माने जाने वाले रूप के प्रति, कोई व्यक्ति अधिक आकर्षित अनुभव करेगा।"

इस प्रकार विचार करने के बाद, ध्येय रूप को यथार्थ और दिव्य देखने की सुविधा के लिए, मैंने दो साधन अपनाए। मैंने अपनी दृष्टि को भौंहों के बीच में निर्देशित करने पर, अपने द्वारा गृहीत प्रकाश से उस रूपाकृति को उभरते हुए देखने का प्रयास किया। यहाँ तक कि जब मैंने शारदाम्बा के मन्दिर में अपना ध्यानाभ्यास प्रारम्भ किया, तो मैंने अपने भौंहों के बीच देखे गए नीले

चक्र से प्रकट हो रही उनकी प्रतिमा की छोटी आकृति का मानसिक चित्रण जानबूझकर बनाया। एक और अभ्यास जिसकी मैंने सहायता ली, वह यह मानना था कि मेरी आँखे अन्दर की ओर मुड़ी हुई हैं और रूप को देख रही हैं, जैसे कि वह प्रकाश से उभरा, मेरे हृदय में प्रवेश किया और मेरे हृदय-कमल में बसा। जिस दिन गुरुजी ने मुझे ध्यान के बारे में निर्देश दिया था, उसके अगले दिन से मैंने इसे अपने ध्यान में सम्मिलित किया।

मैं - क्या गुरुजी को मन्दता या भटकाव से मन को वश में करने में कोई कठिनाई हुई?

गुरुजी - नहीं। प्रारम्भ से ही, मैं बहुत आसानी से ध्यान केन्द्रित करने में सक्षम था और शरीर एवं परिवेश की जागरूकता सदैव फ़ीकी पड़ जाती थी।

मैं - गुरुजी इसका श्रेय किसे देंगे?

गुरुजी (मन्दहास सहित) - गुरुजी की कृपा मुझ पर थी और मुझे लगता है कि मैंने अपने पिछले जन्मों में, अपने अभ्यासों द्वारा उपयुक्त प्रवृत्तियों को प्राप्त किया होगा। मैं इसके अतिरिक्त और क्या कह सकता हूँ कि ध्यानाभ्यास आगे बढ़ा, बिना किसी समस्या के?

मैं - क्या गुरुजी कृपा करके मुझे ध्यान के पहले कुछ महीनों के बारे में और बताएँगे?

गुरुजी - ठीक है। एक महीने से अधिक समय तक, सन्ध्याकाल यहाँ ध्यान करने के बाद, मैंने पास की एक पहाड़ी की चोटी पर ध्यान करना प्रारम्भ किया। (गुरुजी ने पहाड़ी की दिशा की ओर सङ्केत किया, जिसमें वह पहाड़ी स्थित थी, जो दिखाई नहीं दे रही थी।) वहाँ से (शृङ्गेरी शहर में एक पहाड़ी की चोटी पर स्थित) मलहानिकरेश्वर मन्दिर देखा जा सकता है।

जिस दिन मैं पहली बार वहाँ ध्यान करने गया, उस दिन सूर्यास्त होने में लगभग आधा घंटा शेष था। जैसे ही मैं पश्चिम की ओर मुँह करके बैठ गया, मैंने सोचा, "मैं नरसिंह को उनकी ही प्रभा से चमकते हुए ध्यान कर रहा हूँ। आज मैं अस्त होते सूर्य के प्रकाश में उन्हें देखने का प्रयास कर सकता हूँ।"

मैंने सर्वप्रथम सदैव की भाँति उन पर ध्यान केन्द्रित करके प्रारम्भ किया। तब मैंने भावना की कि वे कृपापूर्वक अपनी चमक को कम कर रहे हैं। अब वे पतले मेघ के पीछे से देखे गए चन्द्र जैसे दिखते थे। इसके बाद, मैंने उन्हें सूर्यास्त की नारंगी चमक में नहाते हुए मानसिक चित्रण किया। ध्यान सुचारू रूप से चला और एक घंटे तक चला। इस अनुभव से मैंने समझा कि गहन ध्यान के आरम्भ में, जिस दिव्य रूप पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है, उसकी चमक को और, यदि कोई हो, पृष्ठभूमिक प्रकाश के रंग और तीव्रता को, आराम से समायोजित किया जा सकता है। मैंने अपने ध्यान के बाद के सत्रों में इसकी पुष्टि की।

कुछ दिनों पश्चात्, एक ग्रन्थ पढ़ने के बाद, मैंने सोचा, "किसी भी पल, पृष्ठ का जिस भाग पर मैं अपना दृष्टि केन्द्रित करता हूँ, वह उससे दूर के भाग की तुलना में कहीं अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। ध्यान करते समय, मैं एक दिव्य रूप को अपनी आँखों देखे जैसे मानसिक चित्रण करना चाहता हूँ। इसलिए, जिस भाग पर मेरा ध्यान विशेष रूप — जैसे कि मुख — से केन्द्रित है वह सम्भवतः उस केन्द्र से दूरस्थ भाग की अपेक्षा, अधिक स्पष्ट होता है।" ध्यान के अगले सत्र में, मैंने पाया कि वास्तव में ऐसा ही है। ऐसा नहीं था कि कोई भाग अस्पष्ट था; केवल एक भाग स्पष्टतर था। जब मैंने छवि के हर भाग को समान स्पष्टता से देखने का प्रयास करके, इस न्यूनता को ठीक करने का प्रयत्न किया, तो मुझे ऐसा करने में कठिनाई लगा।

मैंने उस ध्यान सत्र को सदैव की भाँति पूरा किया। फिर मैंने सोचा, "एक समान स्पष्टता से पूर्ण रूप का मानसिक चित्रण करने के बलपूर्वक प्रयास के बदले, मुझे स्पष्टतर मण्डल को पग पग पर बढ़ाना है। इसे सुगम बनाने के लिए, मैं स्वयं को इस भाव से मुक्त कर सकता हूँ कि ध्यान के समय, मेरी दृष्टि उन्हीं सीमाओं के अधीन होती है, जैसे किसी बाहरी वस्तु को देखते समय। इसके बाद, मैं अपनी एकाग्रता की तीव्रता को बढ़ा सकता हूँ। इससे रूप के अन्य भागों की स्पष्टता बढ़नी चाहिए।" अगले तीन सत्रों में, मैंने जो योजना बनाई थी, उसे लागू करके, मैंने सम्पूर्ण दिव्य रूप को हृदय में पूरी स्पष्टता के साथ देखना सीखा।

इसके बाद मुझे लगा, "अब तक मैं केवल देवता के पूर्ण रूप पर ही ध्यान करता रहा हूँ। अब मैं न केवल उसके सम्पूर्ण रूप पर, प्रत्युत उसके अंशों — जैसे चरणों — पर भी ध्यान करने का प्रयास कर सकता हूँ। यह मेरे लिए सरल ही होना चाहिए क्योंकि प्रतिदिन नरसिंह भगवान की मानस-पूजा करते समय, जब मैं उनके चरणों को धोता हूँ, तब केवल चरणों पर ध्यान केन्द्रित करने का अभ्यास मुझे पहले से ही है।"

अगली बार जब मैंने ध्यान किया, मैंने सर्वप्रथम नरसिंह भगवान का सदैव की भाँति मानसिक चित्रण किया। तत्पश्चात्, मैंने केवल उनके चरणों पर ध्यान केन्द्रित किया। तुरन्त, वे मेरी दृष्टि पटल पर व्याप्त हो गए। चूँकि मैंने एक समान स्पष्टता से सम्पूर्ण रूप को देखना पहले ही सीख लिया था, उसी प्रकार चरणों को देखने में किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं थी। यद्यपि मैंने केवल उनके चरण देखे, फिर भी मैं यह नहीं भूला कि वे नरसिंह के अङ्ग हैं। अपने ध्यान के अन्त में, मैंने पुनः नरसिंह के सम्पूर्ण रूप का मानसिक चित्रण किया। इसके बाद, यह सत्र समाप्त हुआ। इसके बाद, मैंने कभी-कभी किसी देवता के रूप के अंशों का भी ध्यान किया। हालाँकि, जब भी मैंने ऐसा करना चाहा, मैं सदैव पूर्ण रूप से प्रारम्भ और समाप्त करता था।

इन सभी दिनों में, मैं केवल बाला और लक्ष्मी-नरसिंह के रूपों का ही ध्यान कर रहा था और वह भी उनके मन्त्रों के ध्यान-श्लोकों के अनुसार। ऐसा इसलिए क्योंकि मुझे लगा कि जब तक मैं इन दोनों पर बार-बार ध्यान केन्द्रित करके ध्यान में दक्षता प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक मेरे लिए अन्य दिव्य रूपों पर ध्यान करना अनुचित होगा। मैं निश्चित रूप से जानता था कि जब मेरी तैयारी पर्याप्त होगी, तब भगवान किसी न किसी रूप से मुझे यह अवगत कराएँगे। मुझे शीघ्र ही ऐसा सङ्केत मिल गया। एक सन्ध्याकाल, मेरी ओर से बिना किसी पूर्वचिन्तन या प्रयास के, कृष्ण का रूप उस प्रकाश से उभरा — जिसे मैंने अपनी भौहों के बीच मानस दर्शन किया — व मेरे हृदय में प्रवेश किया। पीले वस्त्र पहने, उन्होंने वैजयन्ती माला पहनी थी। मयूर-पङ्ख से उनका मुकुट और फूल से उनके कान सुशोभित थे। उन्होंने अपने होठों पर एक बाँसुरी धारण की थी और वे लुभावने रूप से आकर्षक थे।

मुझे लगा, "यह मनोहर रूप और भी आकर्षक होता यदि यह और बड़ा होता।" तो, मैंने तुरन्त कल्पना की कि उनके चरण मेरे हृदय-कमल पर नहीं, प्रत्युत मेरी नाभि के स्तर पर एक कमल में हैं। फिर मैंने भगवान के शरीर तब तक विस्तृत होते हुए चित्रित किया जब तक उनकी शिखा मेरी गर्दन के स्तर पर नहीं थी। जैसे-जैसे मेरी एकाग्रता की तीव्रता बढ़ती गई, मैंने उनके पूर्ण रूप को एकसमान बड़ी स्पष्टता और अत्यधिक आनन्द से देखा।

{आगे उस वर्ष, मैंने गुरुजी से पूछा कि क्या उनके द्वारा देखा गया रूप, भागवत के निम्नलिखित श्लोक में वर्णित रूप से मेल खाता है, जिसे मैंने गुरुजी द्वारा 1950 के दशक में लिखित एक निबन्ध में देखा था।

बर्हापीडं नटवर-वपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनक-कपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान्वेणोरधर-सुधया पूरयन्गोपवृन्दैः
वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः॥

(भागवत-पुराण 10.21.5)

मुकुट पर मोर के पङ्खों के आभूषण, कानों पर कर्णिकार फूल, सुनहरे पीले रंग का वस्त्र और वैजयन्ती माला धारण किए हुए, श्रेष्ठ नर्तक के समान शरीर वाले और ग्वालों की भीड़ द्वारा गाई गई महिमा वाले उन्होंने (कृष्ण ने), अपने होठों के अमृत से बाँसुरी के रन्ध्रों को भरते हुए, अपने चरण-चिह्नों से मनोहर बनाए वृन्दावन में प्रवेश किया।

गुरुजी ने कहा, "हाँ, पूर्ण रूप से मिलता था।"}

(**गुरुजी** -)

करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि॥

(बालमुकुन्दाष्टकम् 1)

(अंजीर के पत्ते की अवतलता में लेटे और अपने सुन्दर हाथ से अपने चरण-कमल को अपने मनोहर मुँह में डाल रहे बाल मुकुन्द (विष्णु) का मैं स्मरण करता हूँ।)

अगले प्रातः, मैंने सहजता से इस श्लोक में वर्णित रूप को अपनी भौहों के बीच के प्रकाश से उभरते हुए और मेरे हृदय-कमल में स्थान लेते हुए निहारा। एक बच्चे के रूप में भगवान ने मुझे वात्सल्य भाव से भर दिया। उस अपराह्न भी, मेरी ओर से बिना किसी इच्छा के, एक दिव्य रूप प्रकट हुआ। यह विष्णु का था, जिनकी चार के बदले, आठ भुजाएँ थीं। भगवान ने अपने चार दाहिने हाथों में सुदर्शन-चक्र, जपमाला, कौमोदकी-गदा और अभय-मुद्रा धारण किया था। अपने चार बाएँ हाथों में, पाञ्चजन्य-शङ्ख, सारङ्ग-धनुष, नन्दक-खड्ग और वरदान-मुद्रा थे। वे मुकुट, भुजबन्ध और कंगन जैसे विभिन्न आभूषणों और माला से भूषित थे।

कुछ समय के लिए, मैंने स्वयं को नारायण अष्टाक्षरी का मानसिक जाप करते हुए पाया। इसके बाद, मेरा मन केवल रूप पर ही अटक गया। जब तक मुझे अपने शरीर के बारे में कुछ भान आया, एक घंटे से अधिक समय बीत चुका था। उठने के बाद भी मुझे अपने हृदय में रूप दिखाई देता रहा। उस सन्ध्या, मैंने इसी रूप पर ध्यान किया। अगले प्रातःकाल, जैसे ही मैंने अपना ध्यान प्रारम्भ किया, मैंने देखा कि जिस रूप को मैं पिछले दिन से देख रहा था, उसे उस रूप में बदल दिया गया था जिसमें भगवान ने केवल एक जपमाला धारण की थी। उनकी मुखछवि अत्यन्त शान्त थी और वे शान्ति बिखेर रहे थे। मेरा ध्यान समाप्त होने के बाद भी मैं अपने हृदय में उस नूतन रूप को देखता रहा।

उस अपराह्न, ध्यान के आरम्भ में, रूप बदल गया और अब मैंने उन्हें न केवल आयुधों के बिना, अपितु बिना मुकुट जैसे अलङ्कारों के भी, देखा। मेरे इस रूप पर ध्यान केन्द्रित करने के साथ, मेरा सायंकालीन ध्यान प्रारम्भ हुआ। एकाएक, मेरा ध्यान केवल उनके सुस्मित मुख पर आकर्षित हुआ। लगभग घंटे भर के सत्र के समाप्त होने तक, मेरा ध्यान विशेष रूप से इसी पर केन्द्रित था। अगले प्रातः, जब तक मैं अपना स्नान पूरा नहीं कर लेता, तब तक मैं अपने हृदय में भगवान को आभूषणों और आयुधों से रहित और केवल एक जपमाला धारण किए हुए देख सकता था। फिर वह रूप लुप्त हो गया।

जब मैंने अपने विष्णु के आकारों का अनुभव गुरुजी को बताया, उन्होंने कुछ नहीं कहा। हालाँकि, कुछ समय बाद, उन्होंने मुझे विष्णु-पुराण की एक प्रति भिजवाई, जिसमें उन्होंने एक रिक्त काग़ज़ रखा था। सङ्केतित भाग में मैंने जिन आकारों पर ध्यान किया था, उन्हीं रूपों के वर्णन और उन पर ध्यान करने का परामर्श देनेवाले श्लोकों को पाया।

{फिर मेरे अनुरोध के उत्तर में, गुरुजी ने विष्णु-पुराण से सम्बन्धित श्लोकों को पढ़ा। वे मुनि केशिध्वज द्वारा खांडिक्य को दिए गए परामर्श के भाग हैं। वे श्लोक इस प्रकार हैं —

किरीट-हार-केयूर-कटकादि-विभूषितम्॥
शार्ङ्ग-शङ्ख-गदा-खड्ग-चक्राक्षवलयान्वितम्।
वरदाभय-हस्तं च मुद्रिका-रत्नभूषितम्॥
चिन्तयेत्तन्मयो योगी समाधायात्म-मानसम्।
तावद्यावद्दृढीभूता तत्रैव नृप धारणा॥
व्रजतस्तिष्ठतोऽन्यद्वा स्वेच्छया कर्म कुर्वतः।
नापयाति यदा चित्तात्सिद्धां मन्येत तां तदा॥

(विष्णु-पुराण 6.7.84-87)

हे राजन्! मुकुट, माला, भुजबन्ध, कटक आदि से सुशोभित, अपने (आठ) हाथों में शार्ङ्ग (धनुष), शङ्ख, गदा, खड्ग, चक्र, जपमाला तथा वरदान एवं अभय की मुद्राओं सहित, अपनी अंगुलियों में रत्नों की अंगूठियाँ धारण किए हुए भगवान पर, योगी को अपना मन पूर्णतः तब तक केन्द्रित करना चाहिए, जब तक कि उस पर उनकी एकाग्रता दृढ़ नहीं हो जाती। सफलता को तब प्राप्त समझा जाना चाहिए जब उसके चलते, खड़े रहते और अपनी स्वेच्छा गतिविधि में संलग्न रहते हुए भी, यह आकृति चित्त से नहीं छूटता।

ततः शङ्ख-गदा-चक्र-शार्ङ्गादि-रहितं बुधः।
चिन्तयेद्भगवद्रूपं प्रशान्तं साक्षसूत्रकम्॥

(विष्णु-पुराण 6.7.88)

फिर, एक बुद्धिमान व्यक्ति को जपमाला सहित, तथा शङ्ख, गदा, चक्र, शार्ङ्ग आदि से रहित भगवान के प्रशान्त रूप का चिन्तन करना चाहिए।

सा यदा धारणा तद्वदवस्थानवती ततः ।
किरीट-केयूर-मुखैर्भूषणै रहितं स्मरेत् ॥
तदेकावयवं देवं चेतसा हि पुनर्बुधः ॥ (विष्णु-पुराण 6.7.89,90)

उस ध्यान के पहले जैसे स्थिर हो जाने के बाद, मुकुट और भुजबन्ध जैसे अलङ्कारों से रहित भगवान को स्मरण करना चाहिए। उसके बाद, एक बुद्धिमान व्यक्ति को अपना चित्त भगवान के प्रधान अङ्ग पर केन्द्रित करना चाहिए।

भागवत-पुराण कहता है कि उद्धव को यह कहने के बाद कि भगवान के पूर्ण रूप का ध्यान करना चाहिए, कृष्ण बोले —

तत्सर्व-व्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत् ।
नान्यानि चिन्तयेद्बुधः सुस्मितं भावयेन्मुखम् ॥ (भागवत-पुराण 11.14.43)

फिर, व्यक्ति को मेरे पूरे शरीर पर फैले हुए मन को एक भाग पर एकाग्र करना चाहिए, और सुन्दर स्मितवदन के अतिरिक्त, और कुछ नहीं सोचना चाहिए।}

(**गुरुजी** -) इन अनुभवों के बाद, जिस प्रकार मैंने पहले बाला और नरसिंह के रूपों तक अपना ध्यान सीमित रखा था, उस प्रकार सङ्कल्पपूर्वक सीमित नहीं रखा। मैंने अन्य दिव्य रूपों पर भी ध्यान करना प्रारम्भ कर दिया। उदाहरण के लिए, पार्वती के साथ बैठे अर्धनारीश्वर के रूप में, दक्षिणामूर्ति और नटराज के रूपों में शिव पर; अपने चार हाथों में सुदर्शन-चक्र, पाञ्चजन्य-शङ्ख, कौमोदकी-गदा और कमल के साथ चतुर्भुज विष्णु पर; राम पर; और गणपति पर — मैंने ध्यान किया।

मैंने पाया कि दृष्टि को भौंहों के बीच निर्देशित करते समय, मानसिक जाप करने के लिए श्रीविद्या जैसे लम्बे मन्त्रों की अपेक्षा, प्रणव (ॐ) जैसे छोटे मन्त्र अधिक सुविधाजनक होते हैं। मेरे द्वारा दिव्य रूप की भावना करने के बाद, मन्त्र की लम्बाई का कोई अन्तर कदाचित् ही रहा। इसलिए, मैंने प्राय: प्रणव के साथ अपना ध्यान प्रारम्भ किया और फिर ध्येय देवता के मन्त्र में

बदला। मन्त्रों का जाप कभी-कभी ध्यान के एक सत्र के अन्त तक बना रहता था, किन्तु सामान्यतः, यह कुछ समय के बाद अपने आप बन्द हो जाता था और उसके बाद केवल रूप रह जाता था।

जब भी मैं सन्ध्याकाल ध्यान के लिए कालभैरव मन्दिर अथवा पास की पहाड़ी पर नहीं जाता था — जैसे शङ्कर-जयन्ती का उत्सव और चातुर्मास्य के समय — तो मैंने प्रातः और अपराह्न में अधिक ध्यान करके बहुत मात्रा में क्षतिपूर्ति की। मैंने चातुर्मास्य की अवधि में रूप का मानसिक चित्रण करना प्रारम्भ करते समय, अपनी एकाग्रता की गहराई को आसानी से तय करने में दक्षता प्राप्त की।

{भव-वर्ष में, शङ्कर-जयन्ती उत्सव 1934 मई 14 से 1934 मई 18 तक, और चातुर्मास्य 1934 जुलाई 26 से 1934 सितंबर 23 तक थे। गुरुजी तब अपने 17वें वर्ष में थे।}

(**गुरुजी** -) मैं तुम्हें एक उदाहरण देता हूँ। मेघगर्जन के गड़गड़ाहट के उच्च शोर को निरुद्ध करने के लिए, या तो उसको सुनने के लिए मगर वर्षा का अथवा मेघगर्जन के गड़गड़ाहट के मन्द शोर को निरुद्ध करने के लिए, शब्द की तीव्रता को मैं समायोजित कर सकता था। यदि मुझे ध्यान के पूरे सत्र के समय, मन्त्र जप करने का मन होता, तो मैं रूप पर एकाग्रता की तीव्रता को उस स्तर पर रखता, जो अन्य की तुलना में कम था। हालाँकि, सामान्यतः, मैंने अपने ध्यान की गहराई को कम नहीं किया।

मैंने लोगों को यह कहते सुना था कि जब वे जप करते हैं या जब वे किसी रूप पर ध्यान करने का प्रयास करते हैं, तो उनका मन भटकता है। जब से मैंने ध्यान करना प्रारम्भ किया, तब से मैंने इस कठिनाई का अनुभव नहीं किया। मन की भटकने की समस्या को समझने के लिए, मैंने एक बार चातुर्मास्य के समय, रूप पर अपनी एकाग्रता के स्तर को उत्तरोत्तर कम करने का प्रयोग किया था। मैंने पाया कि जैसे ही मेरी एकाग्रता अपने सामान्य ध्यान के स्तर से बहुत नीचे गिर गई, तो मेरा मन बाहरी ध्वनियों की ओर थोड़ा भटकने लगा। मन के कुछ विकर्षणों को अवकाश देने हेतु,

जानबूझकर ध्यान की तीव्रता को कम रखते हुए, मैंने दो सत्रों की अवधि में, गड़बड़ी से निपटने के लिए, एक दर्जन से अधिक उपायों का पता लगाया। मन्त्र को अधिक बल लगाकर जपना, कुछ समय के लिए श्वास को रोके रखना और ध्यान के महत्त्व पर बल देना उनमें से कुछ थे।

लगभग एक वर्ष बीत गया। एक प्रातःकाल, जब मैं लक्ष्मी-नरसिंह के रूप के मानस दर्शन करने ही वाला था, बाला-त्रिपुरसुन्दरी का रूप प्रकट हुआ। मैंने उन पर ध्यान किया। उस अपराह्न, मुझे उन पर इस प्रकार — जैसे वे मेरी ओर मुख करके मेरे समक्ष हैं — ध्यान करने की एक प्रबल प्रेरणा का अनुभव हुआ और मैंने ऐसा किया। महीनों हो गए थे जब मैंने इस प्रकार से उन पर ध्यान केन्द्रित किया था। ध्यान के उस सत्र के बाद, मैंने सोचा, "आज भगवान विशेष एवं व्यक्त रूप से उस रूप का निर्धारण कर रहे हैं, जिस पर मुझे ध्यान करना है, ठीक वैसे ही जैसे उन्होंने एक वर्ष पूर्व बाँसुरी सहित कृष्ण, बाल मुकुन्द और आठ भुजाओंवाले विष्णु पर ध्यान करने के लिए मुझे प्रेरित किया था।" मुझे किसी प्रकार से प्रतीत हुआ कि सायंकालीन सत्र असाधारण होगा।

जब मैंने कालभैरव मन्दिर में अपना सायंकालीन ध्यान प्रारम्भ किया, एक प्रबल प्रेरणा की प्रतिक्रिया में, मैंने बाला के बारे में उसी प्रकार चिन्तन किया, जैसे मैंने अपराह्न में किया था। उस दिन, जब मैं सदैव की भाँति अम्बा के समग्र रूप पर ध्यान केन्द्रित कर रहा था, मेरा मन अचानक उनके चरणों पर अटक गया। मैं सदैव उनका रूप स्पष्ट देख रहा था। हालाँकि, उस दिन का अनुभव बहुत असाधारण था। मैंने उनके पैरों को सजीव धड़कते देखा। मैंने साक्षात् देखा स्वयं अम्बा को, न कि केवल उस रूप को जिसे मैं पहले दृष्टिजोचर कर रहा था। दृष्टि की वास्तविकता की भावना अत्यधिक गहन थी और इसमें सन्देह के लिए कोई अवसर नहीं था। यह सविकल्प-समाधि का मेरा प्रथम अनुभव था। समाधि के समय, मैं अपने आप को लगभग पूर्णतः भूल गया था और यह भी कि मैं ध्यान कर रहा था; अम्बा के चरण मात्र प्रकट हुए।

{महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र में कहा है —

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ (योगसूत्र 3.1)

मन को एक स्थान पर बाँध रखना धारणा (एकाग्रता) है।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ (योगसूत्र 3.2)

प्रस्तुत प्रत्यय का वहाँ निरन्तर बनाए रखना ध्यान है।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ (योगसूत्र 3.3)

अपने स्वरूप-शून्य सा होते हुए, वही (ध्यान ही) केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीत होना समाधि है।

शास्त्रीय आशय की व्याख्या करते हुए, गुरुजी बोले, "जैसा कि नाम का तात्पर्य है, विकल्प सहित समाधि सविकल्प-समाधि है। ध्याता, ध्यान क्रिया और ध्येय विषय की त्रिपुटी को यहाँ विकल्प कहा गया है। इस समाधि में, जबकि ध्यान का विषय स्पष्ट और स्थिरता से प्रकट होता है, यह जागरूकता — 'मैं ध्यान कर रहा हूँ' — प्रायिक रूप से हट जाता है, परन्तु पूर्णतः नहीं। इस प्रकार, इसमें ध्याता, ध्यान क्रिया और ध्येय विषय के भेद का भान पूर्णतः विलुप्त नहीं होता। दूसरी ओर, निर्विकल्प-समाधि में, केवल ध्येय वस्तु चमकती है और तब यह जागरूकता — 'मैं ध्यान कर रहा हूँ' — नहीं रहती।"}

(**गुरुजी** -) लगभग डेढ़ घंटे के बाद, मुझे शरीर का भान आया और मैंने अपनी आँखें खोलीं। मैं सचमुच अम्बा को अपने समक्ष मन्दिर के भीतर देख सकता था। मैं आगे बढ़ा और अपने हाथों से उनके चरण छुए। कुछ क्षण बाद, अम्बा अन्तर्धान हो गई।

भगवान की इच्छा ऐसी थी कि मेरे अगले चार सविकल्प-समाधियाँ — लक्ष्मी-नरसिंह, बाँसुरी-सहित कृष्ण, बाल मुकुन्द और अष्टभुज विष्णु — इन रूपों पर हुईं। इस अनुक्रम का औचित्य तुम्हें स्पष्ट हुआ होगा। इसके बाद, मैं अपने चयन के किसी भी रूप पर सविकल्प-समाधि को आसानी से प्राप्त करने में सक्षम था।

{गुरुजी की प्रथम सविकल्प-समाधि और साथ ही अगली चार सविकल्प-समाधियाँ 1935 अक्टूबर 26 को, उनके 18 वर्ष पूरे होने से कुछ माह पहले हुईं।}

मैं - क्या गुरुजी ने सविकल्प-समाधि के बाद के सप्ताहों में कुछ नया करने का प्रयास किया?

गुरुजी - हाँ, मैंने किया। मुझे बैठे ही ध्यान करने का अभ्यास था। एक प्रातः, मैंने यह परिक्षण करना चाहा कि क्या मैं लेटते समय सविकल्प-समाधि का अनुभव आसानी से कर सकता हूँ। इसलिए, शवासन करते समय (जिस समय, व्यक्ति अपने पीठ पर सपाट लेटता है) मैंने अपने हृदय-कमल को अपने सिर की ओर नहीं, प्रत्युत ऊपर की ओर उन्मुख होने के रूप में चित्रित किया और फिर उस पर विराजमान लक्ष्मी-नरसिंह की कल्पना की। इस प्रकार, जब मैं पीठ पर लेटा रहा, मैंने उन्हें सीधे पीठ बैठे देखा। मैंने उन पर ध्यान केन्द्रित किया और तुरन्त ही सविकल्प-समाधि में चला गया।

अगले दिन, शवासन करते हुए, मैंने सदैव की भाँति हृदय-कमल और नरसिंह की पीठ को अपने शरीर के अनुरूप होने की कल्पना की, परन्तु किसी भी प्रकार की विषमता से बचने के लिए, मैंने जानबूझकर अपनी क्षैतिजता की उपेक्षा की। मैंने केवल अपने सिर के सापेक्ष नरसिंह की स्थिति को ध्यान में रखा। क्षणों में, मैं सविकल्प-समाधि में था। इन दो अनुभवों ने मुझे आश्वस्त किया कि भगवान की कृपा से, में लेटते हुए भी सविकल्प-समाधि का आसानी से अनुभव करने की स्थिति में था।

कुछ दिनों बाद, मैंने सोचा, "मेरे समाधि में होते समय, मेरे पीठ और गर्दन सीधे रहते हैं। यह सम्भव है कि यदि मैं शीर्षासन (सर पर खड़े होने) में भले ही समाधि का आनन्द लूँ, तो मेरे पीठ और गर्दन ठीक-ठीक एक पंक्ति में होंगे।" ध्यान के समय सम्भाव्य गिरावट को रोकने हेतु, मैंने एक भित्ति के पास शीर्षासन लगाया। फिर मैंने अपनी छाती में ऊपर की ओर कमल में

नरसिंह को सदैव की भाँति बैठे हुए कल्पित किया और सविकल्प-समाधि प्राप्त की। कुछ समय बाद जब मैं शरीर के प्रति सचेत हुआ, तब मैंने पाया कि मैं पहले जैसे ही शीर्षासन में रहा।

अगले दिन, गिरावट से बचने की सावधानी के बिना ही, मैंने शीर्षासन लगाया। फिर मैंने विचारपूर्वक अपने उल्टे होने को उपेक्षित किया और मेरे हृदय-कमल में, सदैव की भाँति, मेरे सिर की ओर उनके सिर किए हुए विराजमान नरसिंह पर ध्यान किया। क्षणों में, मैं सविकल्प-समाधि में था। मैंने भविष्य में शीर्षासन में समाधि में जाने का कष्ट नहीं उठाया।

मैं - क्या गुरुजी नियमित रूप से अपने विभिन्न अनुभवों और ध्यान के साथ प्रयोगों के विषय में परमगुरुजी को प्रतिवेदित करते थे?

गुरुजी - मैंने उन्हें कई अवसरों पर प्रतिवेदित किया। जिस अवधि में वे अपनी एकान्त अवस्था में होते थे, तब मैंने अपने ध्यान के बारे में प्रतिवेदित करके उन्हें विघ्न नहीं पहुँचाया।

मैं - गुरुजी के प्रतिवेदनों पर परमगुरुजी ने क्या प्रतिक्रिया दी?

गुरुजी - सामान्यतः, उन्होंने अपनी सन्तुष्टि और अनुमति व्यक्त की।

{रूप इत्यादि गुणों से युक्त परमात्मा पर ध्यान, गुणों के अध्यारोपण से रहित परब्रह्म के साक्षात्कार की ओर ले जाता है — यह शास्त्रों की निम्नोक्त घोषणाओं से स्पष्ट है —

उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्॥

(कैवल्य-उपनिषद् 7)

सर्वोच्च भगवान, शक्तिशाली, त्रिनेत्री, नीलकण्ठ और उमा सहित (शिव जी) पर ध्यान करके, मुनि उनको प्राप्त करता है जो सभी के स्रोत, सभी के साक्षी और अविद्या से परे हैं।

वेदान्त-कल्पतरु में कहा गया है —

वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्म-शीलनात्।
तदेवाविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधि-कल्पनम्॥

(ब्रह्मसूत्र (1.1.20) पर कल्पतरु टीका)

ब्रह्म पर गुणों से युक्त रूप में ध्यान द्वारा, अपने मन को वश में लाए जाने पर, वही ब्रह्म सीमित करने वाले उपाधियों के अध्यारोपण से निर्मुक्त, साक्षात् आविर्भूत होगा।}

10. कुण्डलिनी का आरोहण एवं अमृत का अवतरण

[*गुरुजी ने अपनी प्रथम सविकल्प-समाधि की प्राप्ति के विवरण से मुझे अनुगृहीत करने के कुछ दिनों बाद, निम्नलिखित संवाद 1981 मार्च के महीने में शृङ्गेरी में हुआ था।*]

मैं - कुछ वर्ष पहले, गुरुजी ने मुझे उस स्वप्न के बारे में बताया था, जिसमें गुरुजी के संन्यास के कुछ महीने बाद, शारदाम्बा ने कुण्डलिनी के जागरण और आरोहण पर प्रकाश डाला था। जाग्रत अवस्था में गुरुजी को पहली बार कुण्डलिनी के सिर पर आरोहण का अनुभव कब हुआ था?

गुरुजी - युव-संवत्सर (1935-36) के चातुर्मास्य के समय, मेरे सविकल्प-समाधि के प्रथम अनुभव के कुछ माह बाद। जैसा कि तुम जानते हो, कुण्डलिनी के जागरण एवं आरोहण के बिना किसी व्यक्त अनुभव के भी, एक वेदान्ती अथवा पातञ्जल-योग के साधक के लिए, समाधि प्राप्त करना अवश्य सम्भव है। उसे बाद के किसी अवसर पर आरोहण का स्पष्ट अनुभव हो भी सकता है और नहीं भी। मेरे विषय में, वह अनुभव हुआ।

{1935 में — जिस वर्ष के पूर्वार्द्ध में गुरुजी की पहली सविकल्प-समाधि हुई — चातुर्मास्य जुलाई 16 से सितंबर 12 तक था।}

मैं - क्या गुरुजी कृपा करके मुझे उस अनुभव के बारे में बताएँगे?

गुरुजी - एक प्रातःकाल, मैं सिद्धासन में बैठा और मैंने जालन्धर, उड्डीयान तथा मूल बन्धों सहित चार प्राणायाम किए। फिर, मैंने सदैव की भाँति अपनी टकटकी को भौहों के बीच में निर्देशित करके, मानसिक रूप से प्रणव का जाप करते हुए अपना ध्यान प्रारम्भ किया। जैसा कि सामान्यतः होता था, एक नीला प्रकाश प्रकट हुआ। इससे पहले कि मैं किसी रूप का मानसिक चित्रण बनाता, मुझे अपने तलवों के बीच में एक बिजली के झटके जैसा कुछ अनुभव हुआ। जैसे-जैसे वह संवेदना मेरे शरीर में फैलती हुई ऊपर की ओर बढ़ने लगी, मुझे तीव्र गर्मी का अनुभव हुआ। मेरा शरीर तेज़ी से काँप उठा। फिर, मेरी साँस अचानक रुक गई। कुछ ही क्षणों में, वह सनसनी मेरी पीठ से होते हुए मेरे सिर में चली गई। मैं सविकल्प-समाधि में गहराई से डूब गया।

मैं - जब संवेदना पीठ में ऊपर उठने लगी, तो टाँगों को कैसा लगा?

गुरुजी - उनके बारे में मेरी जागरूकता लुप्त हो गई। मेरी पीठ में जिस भी स्तर पर सनसनी पहुँची, मैं अपने शरीर के उस स्तर से नीचे के भाग के बारे में अचेत हो गया।

मैं - चढ़ाई तेज़ थी या धीमी?

गुरुजी - तलवों से पीठ के मूल तक की गति बहुत तेज़ थी। वह लगभग तात्क्षणिक था। पीठ के मूल से नाभि के थोड़े निचले स्तर तक चढ़ाई धीमी थी, फिर भी तेज़। उसके बाद, वह एक चींटी की गति जैसी थी।

मैं - क्या गुरुजी को चक्र गोचरित हुए?

गुरुजी - हाँ। जब संवेदना पीठ के मूल पर पहुँची, तो मैंने क्षण भर के लिए मूलाधार-चक्र के कमल को खिले हुए देखा। उसके तुरन्त बाद, मुझे स्वाधिष्ठान का क्षणिक दृश्य दिखाई दिया। संवेदना के मेरी पीठ पर मेरी नाभि के स्तर तक चढ़ने से ठीक पहले, मैंने मणिपूर के पद्म को नीचे की ओर देखा, जिसकी पंखुड़ियाँ लगभग पूर्णतः बन्द थीं। स्पंद नाभि तक पहुँचते ही, वह कमल सीधा हो गया और खिल गया। अनाहत, विशुद्ध एवं आज्ञा चक्रों के साथ भी ऐसा ही था।

मैं - गुरुजी की सविकल्प-समाधि से पहले, कौन सा अनुभव था और उस समाधी की विषय-वस्तु क्या थी?

गुरुजी - आज्ञा-चक्र को क्षण भर के लिए खिलते हुए देखने के बाद, मैंने बिजली के समान प्रकाश की एक तेज चमक का अनुभव किया। इसके बाद, मैंने एक आकर्षक, चमकदार छोटा नीला गोला देखा। मेरा अवधान उस पर टिका हुआ था और चूँकि मैं केवल उस मण्डल को देख पा रहा था, उसका छोटापन अब गोचरित नहीं था। तत्पश्चात्, उसके अन्दर मैंने शिव एवं पार्वती के रूपों का मानसिक चित्रण किया। शिव और पार्वती के रूपों के साथ नीला गोला मेरी सविकल्प-समाधि विषय-वस्तु रही।

मैं - क्या गुरुजी कृपा करके समाधि से अवतरण का वर्णन करेंगे?

गुरुजी - शिव एवं पार्वती अन्तर्धान हो गए और बाद में, नीला गोला भी। तब मैंने अनुभव किया जैसे मैं किसी दिव्य शक्ति के साथ नीचे की ओर चल रहा हूँ। आज्ञा, विशुद्ध एवं अनाहत चक्रों को एक के बाद एक पीछे छोड़ते हुए, मैं मणिपूर-चक्र में आया। शक्ति के किसी और अवतरण को अनुभव किए बिना, मैंने शरीर के बारे में आंशिक जागरूकता प्राप्त की; ऐसा लग रहा था कि मेरी नाभि से निचला भाग गुम हो गया हो। जैसे ही मैं शरीर के अन्य अङ्गों के प्रति भी सचेत हुआ, मुझे पता चला कि मैंने जालन्धर, उड्डीयान एवं मूल बन्धों को अपनाया था। इसका मुझे सर्वथा नहीं पता था कि मैंने ऐसा अनिच्छापूर्वक कब किया। मैंने बन्ध खोले और सामान्य रूप से श्वास लेने लगा। जब मैंने अपनी आँखें खोलीं, तो देखा कि मेरे पैर नीले पड़ गए हैं। पल भर में, वे सामान्य हो गए।

{गुरुजी ने यह स्पष्टीकरण दिया है — "कुछ लोगों का मानना है कि कुण्डलिनी के जागरण एवं स्वाधिष्ठान तक उसके आरोहण के साथ तीव्र लैंगिक इच्छा की अस्थायी अभिव्यक्ति होने की सम्भावना है। यह भी कहा जाता है कि कुण्डलिनी के मूलाधार से सहस्रार तक अपने मार्ग में चलते, कुण्डलिनी द्वारा ब्रह्म, विष्णु, रुद्र ग्रन्थियों को छेदने के साथ, अत्यन्त पीड़ा एवं रुग्णता भी होती हैं। व्यक्ति के लिए यह सराहनीय मार्ग है कि वह सर्वप्रथम तीव्र विरक्ति को उपजाए और नाड़ियों को शुद्ध करे। केवल सात्त्विक आहार का ही सेवन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त, कुण्डलिनी-योग का अभ्यास किसी विशेषज्ञ के मार्गदर्शन में किया जाना चाहिए, न कि केवल पुस्तकों के अध्ययन से। जो यह सब सुनिश्चित करता है, उसके लिए कुण्डलिनी के जागरण एवं आरोहण निश्चित रूप से कामुकता, पीड़ा एवं रुग्णता से नहीं जुड़ते।}

मैं - कुण्डलिनी के सिर पर चढ़ने के गुरुजी का अगला साक्षात् अनुभव कब हुआ? क्या वह अनुभव इसके समान ही था?

गुरुजी - दूसरा अनुभव अगले दिन ही हुआ और कुछ प्रकारों में इससे अलग था। मेरे संन्यास के कुछ महीनों के बाद से, मैं विभिन्न चक्रों में कुण्डलिनी की मानसिक-पूजा करता था। एक चक्र में की गई पूजा को मैं अग्रिम ऊपरी

चक्र में, इस भावना के साथ बनाए रखा कि मैं कुण्डलिनी को पूज्य भाव से ले जा रहा हूँ। मैंने ऐसी पूजा मङ्गलवार और शुक्रवार को प्रातः की। जिस दिन के बारे में मैंने बात की थी, उसका अगला दिन मङ्गलवार था। मैंने सदैव की भाँति, मूलाधार-चक्र में पूजा प्रारम्भ की और स्वाधिष्ठान-चक्र में उसे बनाए रखा। जब मैंने कल्पना की कि कुण्डलिनी मणिपूर-चक्र पर चढ़ गई है, मेरा श्वास अपने आप रुक गया, और मैंने स्वतः ही जालन्धर, उड्डीयान व मूल बन्धों को अपना लिया।

तब मैंने कुण्डलिनी की ऊर्ध्व गति का अनुभव किया। साथ ही, मैंने अनुभव किया कि पृथ्वी-, जल- एवं अग्नि-तत्व क्रमिक रूप से मूलाधार, स्वाधिष्ठान और मणिपूर चक्रों के देवताओं के साथ-साथ कुण्डलिनी में लीन हो गए थे। मुझे यह भी अनुभव हुआ कि मुझमें एक महान शक्ति भर रही है। शीघ्र ही, सर्पिल ढंग से कुण्डलिनी-शक्ति अनाहत-चक्र तक पहुँच गई। वायु-तत्त्व एवं अनाहत-चक्र के देवता कुण्डलिनी में लीन होते हुए दिखाई दिए।

अनाहत-चक्र से विशुद्ध-चक्र तक, कुण्डलिनी का आरोहण सर्पिल नहीं, प्रत्युत तात्कालिक था। मैंने अनुभव किया कि आकाश-तत्त्व एवं विशुद्ध-चक्र के देवता कुण्डलिनी में विलीन हो गए हैं। अगले ही पल, वह शक्ति आज्ञा-चक्र पर थी। मुझे बोध हुआ कि सभी अङ्ग वहाँ कुण्डलिनी में लीन हो गए हैं। तब, मुझे दक्षिणामूर्ति के रूप में शिव जी के दर्शन हुए।

आज्ञा-चक्र से सहस्रार-चक्र तक कुण्डलिनी का आरोहण तात्क्षणिक नहीं था, प्रत्युत तेज़ था। मुझे बीच में कुछ केन्द्रों का एक क्षणभङ्गुर अस्पष्ट दृश्य प्राप्त हुआ एवं ऐसा लगा कि मार्ग में मन एवं बुद्धि, कुण्डलिनी में लीन हो गए हैं। सहस्रार के परिफल क्षेत्र पर, मुझे एक अमृत-प्रवाही, चन्द्रमा जैसे क्षेत्र का दर्शन हुआ। इसमें एक त्रिकोणीय क्षेत्र था, जो बिजली की भाँति चमकदार था, जिसमें एक बहुत छोटा, रिक्त भासमान अन्तराल था। तब मैं अनायास समाधि में चला गया। मेरे ध्यान का विषय उस छोटे से अन्तराल में विराजमान भगवान था।

जैसे ही मैं समाधि से निकला, मैंने स्वयं को कुण्डलिनी के साथ तेज़ी से उतरते हुए अनुभव किया। आज्ञा, विशुद्ध और अनाहत चक्रों में इन चक्रों से होते हुए, कुण्डलिनी के आरोहण के समय, जो कुण्डलिनी में विलीन हो गए थे, वे फिर से प्रकट हुए। अनाहत-चक्र तक पहुँचने पर, मुझे शरीर के बारे में थोड़ी जागरूकता प्राप्त हुई। मैंने पाया कि मेरी जीभ पीछे की ओर मुड़ी हुई थी और मुझे अपने गले के पिछले भाग में एक अनोखे स्वादिष्ट द्रव की कुछ ठण्डी बूँदों का उतरना अनुभव हुआ। अन्त में, मैंने अपनी आँखें खोलीं।

मैं - गुरुजी के ऐसा करने पर, अनाहत-चक्र के स्तर से नीचे, गुरुजी के शरीर की क्या स्थिति थी?

गुरुजी - स्थिति सामान्य थी। पिछले अवसर के विपरीत, मेरे पैर कुछ समय के लिए नीले नहीं थे। साथ ही, इस बार, मैं सीधे पूरे शरीर के प्रति सचेत हो गया, न कि केवल उसके ऊपरी आधे भाग के।

मैं - क्या गुरुजी ने गले के पिछले भाग में उतरने वाले द्रव को सहस्रार से निकलने वाले अमृत के रूप में पहचाना?

गुरुजी - हाँ, बिना किसी विलम्ब के। मेरी स्मृति में है कि कुछ वर्ष पहले मैंने तुम्हें सात असाधारण स्वप्नों की शृङ्खला के बारे में बताया था, जिनमें ईश्वर ने मुझे हठ-योग सिखाया था। शिव जी के खेचरी-मुद्रा के प्रदर्शन के समय, मैंने अपने मुँह के पिछले भाग में एक तरल पदार्थ के उतरने का अनुभव किया था और समझ लिया था कि इससे भूख, प्यास और सुस्ती दूर हो जाती हैं। तुम्हें स्मृति होगी कि मैंने तुमको इसके बारे में बताया था। जिस स्वाद का मैंने अनुभव किया था, वह मेरे चित्त में अङ्कित हो गया था। शरीर के प्रति थोड़ा सा बोध होने पर द्रव के जिस स्वाद को मैंने अनुभव किया था, वह उस स्वाद से ठीक-ठीक मिलता था। मैंने स्वप्न में जो स्फूर्तिदायक प्रभाव अनुभव किया था, वह भी इससे मेल खाता था; यह दो दिन तक बना रहा।

जिस स्वप्न में शारदाम्बा ने मुझे कुण्डलिनी के जागरण एवं आरोहण के बारे में सिखाया था, उसमें मैंने सहस्रार के परिफल क्षेत्र पर, अमृत बहाते हुए चन्द्रमा जैसा क्षेत्र देखा। मैंने उस स्वप्न में जो देखा, वह उससे मेल खाता था

जिसे मैंने अपने ध्यान में देखा। तो, मुझे सहस्रार से निकलने वाले द्रव के रूप में पहचानने में कोई कठिनाई नहीं हुई। तीन दिन बाद मुझे जो अनुभव हुआ, उसने मेरे निष्कर्ष का समर्थन किया।

उस प्रातःकाल, जैसा कि मैं अपने हृदय में एक दिव्य रूप की कल्पना और ध्यान केन्द्रित करने वाला था, मेरी जीभ पीछे की ओर मुड़ गई। फिर, एक पल के लिए, मैंने अम्बा की आकृति को सहस्रार में बैठे एवं अमृत बरसते हुए देखा। मैंने अम्बा पर इसी प्रकार ध्यान करने का निश्चय किया। इसलिए, मैंने उनकी कल्पना उस प्रकार की जिस प्रकार मैंने उन्हें देखा था और उन पर ध्यान केन्द्रित किया था। मैं शीघ्र ही सविकल्पक-समाधि में था। जब मैं शरीर के बारे में सचेत हुआ, तब मैंने अनुभव किया कि तरल पदार्थ की कुछ बूँदें मेरे गले के पिछले भाग में उतर रही हैं। स्वाद, शीतलता और स्फूर्तिदायक प्रभाव पिछले अवसर जैसे ही थे।

{ब्रह्माण्ड-पुराण के ललिता-सहस्रनाम में, अम्बा के सहस्रार में स्थित रहकर अमृत के बरसने के बारे में, इस प्रकार कहा गया है —

सहस्राराम्बुजारूढा सुधासाराभिवर्षिणी। (ललिता सहस्रनाम 2.39)

वे जो सहस्रार-कमल पर आरूढ़ हैं; वे जो अमृत की वर्षा करती हैं।

1982 दिसंबर 21 को मध्यप्रदेश के परमहंसी-गङ्गाश्रम में, एक विशाल सभा को सम्बोधित करते हुए, गुरुजी ने अपने अनुग्रह भाषण में बताया कि कैसे लोग समुचित प्रकार से देवी माँ पर ध्यान केन्द्रित करके, अपने विभिन्न अभीष्ट लक्ष्यों को प्राप्त कर सकते हैं। लोगों की लम्बी उम्र की इच्छा के सम्बन्ध में, उन्होंने निम्नलिखित प्रामाणिक श्लोक का उल्लेख किया —

शीर्षाम्भोरुह-मध्ये शीतल-पीयूष-वर्षिणीं भवतीम्।
अनुदिनमनुचिन्तयतामायुष्यं भवति पुष्कलमवन्याम्॥

(आर्या-द्विशती 211)

जो लोग सिर के कमल के भीतर स्थित और शीतल अमृत बरसाने के रूप में, प्रतिदिन आपका (माँ का) ध्यान करते हैं, उनका इस धरती पर जीवन काल महान हो जाता है।

गुरुजी ने तब कहा, "शास्त्र और यहाँ तक कि हमारे अनुभव से पता चलता है कि सिर में कमल है; जैसे एक साधारण कमल में फूलों में मधु होता है, वैसे ही इस (सहस्रार-)कमल में भी अमृत होता है। इसके अमृत का आस्वादन लम्बिका-योग में होता है। लम्बिका-योग में जीभ को बहुत पतला और लम्बा बनाना, उसे मुँह के पिछले रन्ध्र में डालना और उसे ऊपर की ओर सिर तक ले जाना सम्मिलित हैं। जब कोई जिह्वा को सिर पर रख पाता है, तब वह वहाँ बहने वाले अमृत का स्वाद चखता है। इस प्रकार अमृत पीने वालों को, लम्बी आयु प्राप्त होती है। यह योग-शास्त्र में सिखाया गया एक साधन है।"

फिर, उद्धृत श्लोक के आलोक में, लम्बिका-योग से अपरिचित, परन्तु भव सागर को पार करने या एक लम्बा जीवन पाने इच्छुक माताजी के भक्त द्वारा जो प्रक्रिया अपनाई जा सकती है, उसके बारे में गुरुजी ने समझाया। उन्होंने कहा, "माताजी का ध्यान छह (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध एवं आज्ञा) चक्रों एवं सहस्रार में किया जा सकता है। सहस्रार इन केन्द्रों में सबसे ऊपर है।

शीर्षाम्भोरुहमध्ये

सिर के कमल के भीतर।

हे माँ, आप वहाँ विराजमान हैं। आप अपने दोनों हाथों से अमृत बरसा रही हैं। वह मेरे पेट में उतर रहा है और उसको भर रहा है।

शीतलपीयूषवर्षिणीं भवतीम्।

आप जो शीतल अमृत की वर्षा करती हैं।

अमृत शीतल है। आप सचमुच देवताओं के अमृत की वर्षा कर रही हैं। मैं इस प्रकार आपका ध्यान करता हूँ।"

श्लोक के प्रथमार्ध में निर्दिष्ट ध्यान को एक साधक के दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने के बाद, गुरुजी ने उसको एक उपदेश के रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा, "आँखें बन्द कीजिए। सहस्रार कमल का चिन्तन कीजिए। फिर, कल्पना कीजिए कि माताजी वहाँ विराजमान हैं और अमृत बरसा रहे हैं। अनुभव कीजिए कि अमृत उतर रहा है और पेट भर रहा है।

"इस प्रकार चिन्तन करने का फल क्या है?

अनुदिनमनुचिन्तयतामायुष्यं भवति पुष्कलमवन्याम्॥

प्रतिदिन इस प्रकार ध्यान करने वालों का इस धरती पर जीवन-काल महान हो जाता है।

"आप लम्बी उम्र प्राप्त कर सकते हैं।"

आधे घंटे का यह अनुग्रह भाषण देने के कुछ ही समय बाद, गुरुजी ने मुझे अकेले में बताया, "जब मैंने '**शीर्षाम्भोरुहमध्ये...**' श्लोक को उद्धृत किया, तब छोटे होते हुए जो मैंने पाया था, उससे सम्बन्धित अनुभव की स्मृति मुझे आई। मेरा उल्लेख करने का कि शास्त्र तथा अनुभव भी वहाँ सहस्रार-पद्म और अमृत की उपस्थिति को प्रकट करते हैं, यह एक कारण था।"}

(**गुरुजी** -) समाधि के बाद, जैसे ही मैं अपने प्रातराह्निक में लगा, मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मेरे सिर के शिखर से कुछ रिसने लगा है। इससे मुझे कोई असुविधा नहीं हुई। मैंने अपने ऊपरी वस्त्र को सिर के ऊपर से पीछे धकेला एवं सम्बन्धित स्थल को छूआ। मैंने निर्धारित किया कि वास्तव में वहाँ से एक द्रव धीरे-धीरे उभर रहा है। वह शुद्ध जल जैसा लग रहा था और मेरे सिर के पार्श्व से नीचे बह गया। लगभग एक मिनट में, रिसाव रुक गया। तब तक लगभग एक चम्मच भर द्रव बह चुका था।

पिछले कुछ दिनों में, गुरुजी कुछ अन्तर्मुखी थे। हालाँकि, उस दिन, जब मैंने अपने आह्निक के बाद उनके दर्शन किए, उन्होंने मुझे अपने अनुभवों को संक्षेप में निवेदित करने का अवसर दिया। उन्होंने पुष्टि की कि मुझे अपने गले के पिछले भाग में जो अनुभव हुआ था, वह सहस्रार का अमृत था। फिर उन्होंने मुझे बताया कि कभी-कभी, उन्होंने अपने आप ही इस अमृत के अवतरण का अनुभव किया था और उनके प्रसङ्ग में इसका प्रभाव एक से तीन दिनों तक बना रहा था।

उन्होंने आगे कहा, "अमृतस्राव से पहले या बाद में थोड़ा जल मेरे सिर के शिखर से निकला। अमृतस्राव और जल के रिसने के बीच कार्य-कारण

सम्बन्ध नहीं है। वह जल दूसरों के द्वारा देखा और प्राप्त किया जा सकता है। हालाँकि, भले ही उस व्यक्ति द्वारा अमृत के अवतरण, स्वाद, शीतलता और स्फूर्तिदायक प्रभाव का स्पष्ट रूप से अनुभव किया जा सकता है, तथापि दूसरे के लिए इसे देखना या एकत्र करना असम्भव है। शीर्ष, गले या पेट के आन्तरिक भाग की जाँच से, किसी भी अमृत की उपस्थिति का पता नहीं चलेगा।"

{गुरुजी ने कुछ वर्ष पहले, लम्बिका-योग, अमृत के अवरोहण और जल के रिसने के बारे में मुझे स्पष्टीकरण प्रदान करके, मुझ पर कृपा की थी। उस समय, जबकि उन्होंने कहा कि परमगुरुजी को अमृत का साक्षात् अनुभव था, तब उन्होंने यह उल्लेख नहीं किया कि उन्हें भी ऐसा ही अनुभव था। 1979 के सितंबर में नवरात्री के समय, गुरुजी ने मुझे प्रातः 6:30 बजे बुलावा भेजा; सामान्यतः, मैं 8 बजे के बाद उनके आह्निक दर्शन करता था। वे एक जप प्रारम्भ करने वाले ही थे, तब उन्होंने मुझसे कहा, "मुझे ऐसा लग रहा है कि कुछ ही मिनटों में मेरे सिर से जल का रिसाव होगा। मैंने सोचा था कि तुम उसे देखना चाहोगे।" मैंने अपना नमस्कार अर्पण किया एवं प्रतीक्षा की।

गुरुजी ने अपने ऊपरी वस्त्र को अपने सिर से पीछे धकेला। उसके एक मिनट के भीतर, मैंने देखा कि तरल की एक बूँद उनके शीर्ष पर दिखाई दे रही है। गुरुजी के सिर का बाकी भाग सूखा था। वातावरण ठंड़ा था और गुरुजी को पसीना नहीं आ रहा था। धीरे-धीरे, उसी स्थान पर कुछ और द्रव निकला। गुरुजी आगे झुके और अपनी उद्धरणी (जल लेने के लिए उपयुक्त चम्मच) में सारी मात्रा को बड़े व्यवस्थित ढंग से एकत्र किया। मैंने देखा कि एकत्र की गई मात्रा लगभग 10 मिली थी। वह द्रव रंगहीन था।

मेरे अनुरोध को स्वीकार करते हुए, उन्होंने उस तरल को मेरी दाहिनी हथेली में डाल दिया। मैंने पाया कि वह गन्धहीन था और जल जैसा लग रहा था। उस द्रव को पवित्र मानते हुए, मैं वहाँ से बाहर जाने के बाद पीना

चाहता था। हालाँकि, गुरुजी ने कहा, “इसे फेंक दो और अपने हाथ धो लो। यह पसीने के तुल्य निकल आया है। अशुद्ध होने के कारण, यह पीने योग्य नहीं है।” उन्होंने इस अवसर पर अमृत का उल्लेख नहीं किया।}

11. दिव्य रूपों से निराकार सत्य तक

[*निम्न संवाद अगस्त 1989 में शृङ्गेरी में हुआ। अपनी इच्छा से, गुरुजी ने मुझसे कहा, "कुछ वर्षों में, या तो स्वयं या तुम्हारे प्रश्नों के उत्तर में, मैंने तुम्हें अपने आध्यात्मिक जीवन का विवरण दिया है। अगर इसके बारे में कुछ और है जो तुम जानना चाहते हो, तो बिना किसी झिझक के, मुझसे पूछ लो। मैं इसके किसी भी पहलू को तुमसे गुप्त नहीं रखना चाहता।" अगले माह गुरुजी ने अपना भौतिक शरीर त्याग दिया।*]

मैं - 1935 में, गुरुजी ईश्वर के कई रूपों पर ध्यान एवं समाधि का आनन्द ले रहे थे। फिर भी, गुरुजी अचानक सगुण-ध्यान से निर्गुण-ध्यान में बदल गए और गुरुजी ने शीघ्र ही निर्विकल्प-समाधि प्राप्त कर ली। क्या कोई विशेष बात थी, जिसने गुरुजी को बदलाव करने के लिए प्रेरित किया?

गुरुजी - हाँ, मैंने अभी तक इस विषय में किसी को सङ्केत तक भी नहीं दिया है। अब मैं तुम्हें सब कुछ बताऊँगा। यह पहली और अन्तिम बार होगा जब मैं ऐसा कर रहा हूँ। जब तक मैं जीवित हूँ, इस पहलू की कोई बात तुम्हें किसी से नहीं कहनी चाहिए।

वह शुक्ल-दशमी का दिन था। उस दिन, मेरा मन सामान्य से कुछ अधिक समय पहाड़ी पर ध्यान में बिताने का था। जब मैं अपने ध्यान के लिए निकलने का प्रबन्ध कर रहा था ताकि सूर्यास्त से लगभग डेढ़ घंटे पहले अपना ध्यान प्रारम्भ कर सकूँ, तब मुझे बताया गया कि गुरुजी ने मुझे बुलवाया है। मैं तुरन्त उनके पास गया। वे अकेले बैठे थे। मैंने उनको प्रणाम किया। उन्होंने मुझे बैठने का सङ्केत दिया। मेरे बैठने पर, उन्होंने पूछा, "क्या आप ध्यान के लिए निकलने वाले थे?" मैंने, "हाँ," उत्तर दिया। वे स्मित हुए। एक मिनट तक उन्होंने कुछ नहीं कहा, परन्तु मेरे मुख को एकटक देखा। फिर मन्दहास सहित, उन्होंने कहा, "मैं प्रसन्न हूँ, आप जा सकते हैं।" मैंने नमस्कार किया। जैसे ही मैंने प्रणाम किया, वे आगे की ओर झुके एवं अपने दोनों हाथ मेरे सिर पर रख दिए। फिर उन्होंने कुछ ज़ोर से इस मन्त्र का तीन बार उच्चारण किया, जबकि उनके हाथ अभी भी मेरे सिर पर ही थे –

ॐ नमः शिवाय।

(ॐ शिव को नमन।)

यह असाधारण था। जैसे ही मैं खड़ा हुआ, मुझे दृढ़ अनुभव हुआ, "आज मुझे शिव जी पर ध्यान करना चाहिए।"

मैं अपने कक्ष में गया और अपने आसन-वस्त्र को उठाकर पहाड़ी की ओर निकल पड़ा। मेरे परिचारक ने मेरा पीछा किया। मैं सच्चिदानन्द-विलास से कुछ ही दूरी पर था कि मैंने गुरुजी की ताली सुनी। ऐसा लग रहा था कि वह ध्वनि भवन के बाहर से ही आ रही हो। मैं मुड़कर देखा कि गुरुजी सच्चिदानन्द-विलास के सामने खड़े होकर मेरी दिशा में देख रहे हैं। मैं उनकी ओर दौड़ने ही वाला था कि उन्होंने सङ्केत दिया कि मुझे यथापूर्व आगे बढ़ना चाहिए। मगर उन्होंने मेरे परिचारक को सङ्केत से बुलाया। मैं तेज़ी से चला — उन दिनों मेरा चलना लगभग एक दौड़ जैसा था — और शीघ्र ही पहाड़ी की तलहटी में पहुँच गया। मैं यह देखने के लिए मुड़ा कि क्या परिचारक मुझ तक पहुँचने का प्रयास कर रहा है, परन्तु वह दूर-दूर तक कहीं भी नहीं दीख सका।

पूरे एकान्त में ध्यान करने का विचार मुझे आकर्षक लगा। मैं शीघ्र पहाड़ी पर चढ़ गया। वहाँ, सदैव की भाँति, मैं पश्चिम दिशा की ओर मुँह करके बैठ गया। मलहानिकरेश्वर मन्दिर मेरे दृष्टि-पथ के ठीक-ठीक सामने था। आकाश पूर्णतः स्वच्छ था, बिना किसी मेघ के भी। सूर्य एवं चन्द्रमा दोनों स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। सारा दृश्य बहुत ही सुन्दर था। उससे मन्त्रमुग्ध होकर, मैंने दक्षिणामूर्ति-स्तोत्र के "**भूरम्भांसि...**" श्लोक का जाप किया।

{वह श्लोक है —

भूरम्भांस्यनलोऽनिलोऽम्बरमहर्नाथो हिमांशुः पुमा-
नित्याभाति चराचरात्मकमिदं यस्यैव मूर्त्यष्टकम्।
नान्यत्किञ्चन विद्यते विमृशतां यस्मात्परस्माद्विभो-
स्तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥ (दक्षिणामूर्ति-स्तोत्र 9)

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा और आत्मा के रूप में प्रकट होने वाला, यह समस्त चराचर ब्रह्माण्ड जिनका अष्ट-विध रूप है; जिन सर्वोच्च और सर्वव्यापी के परे, एक विचारशील व्यक्ति के लिए और कुछ भी

विद्यमान नहीं है; जो भव्य गुरु के रूप में अवतरित हैं — उन देदीप्यमान दक्षिणामूर्ति (शिव जी) को प्रणाम।}

(**गुरुजी** -) सिद्धासन में बैठकर, मैंने अपना ध्यान प्रारम्भ करने से पहले मानसिक रूप से, गुरुजी को तथा शिव जी को वन्दन किया। मैंने अपनी दृष्टि को अपनी भौहों के बीच के स्थान की ओर निर्देशित किया। अपनी आँखों को स्थिर रखते हुए, मैंने अपने मन में "**ॐ नमः शिवाय**" का जाप किया। उस दिन, मैंने केवल प्रणव का जाप नहीं किया। सदैव की भाँति, मुझे अपनी भौहों के बीच एक तेज़ झुनझुनी सनसनी अनुभव हुई। मुझे शीघ्र ही अपने भीतर उस स्थान में एक आकर्षक एवं शीतल चन्द्रमा जैसी चक्राकार प्रभा दिखाई देने लगी। इससे पहले मुझे ऐसी गोलाकृति केवल कुछ अवसरों पर दिखाई दी थी। जो बहुधा प्रकट होता था वह नीला रंगत था; कभी-कभी, एक हरा रंगत प्रकट होता था। मन बहुत शान्त और सावधान होने के साथ, मैंने अपने हृदय-कमल को पूर्ण रूप से खिलने की कल्पना की। उसमें, '**शान्तं पद्मासनस्थम्...**' ध्यान-श्लोक के अनुसार, पार्वती सहित, पञ्चमुख एवं दशभुज शिव जी का मैंने मानसिक चित्रण किया।

{पूरा श्लोक है —

शान्तं पद्मासनस्थं शशधरमकुटं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रं
शूलं वज्रं च खड्गं परशुमभयदं दक्षभागे वहन्तम्।
नागं पाशं च घण्टां प्रलयहुतवहं साङ्कुशं वामभागे
नानालङ्कारयुक्तं स्फटिकमणिनिभं पार्वतीशं नमामि॥

(शिव-पञ्चाक्षरी मन्त्र का ध्यान श्लोक)

मैं पार्वती के स्वामी को प्रणाम करता हूँ — जो शान्त हैं; जो पद्मासन में बैठे हैं; जिनके शिखर में चन्द्रमा है; जिनके पाँच मुख (चार दिशाओं में चार एवं ऊपर की ओर एक) हैं; जो (प्रति मुख) तीन नेत्रों वाले हैं; जो अपने दाहिने (पाँच हाथों में) त्रिशूल, वज्र, खड्ग, परशु और अभय-मुद्रा (खुली हुई हथेली) धारण करते हैं; जो बाईं ओर (के पाँच हाथों में) सर्प, फंदा, घंटी, ब्रह्माण्ड की प्रलय करने वाली आग एवं अङ्कुश (धारण करते हैं); जो विभिन्न प्रकार से सुशोभित हैं; और जो (रूप-रंग में) स्फटिक मणि जैसे दिखते हैं।}

(**गुरुजी** -) जैसे ही मैंने रूप पर ध्यान केन्द्रित किया, परिवेश और शरीर के बारे में मेरी जागरूकता लुप्त हो गई। शीघ्र ही, (**ॐ नमः शिवाय**) पञ्चाक्षरी-मन्त्र का मानसिक जाप रूक गया व मेरा मन पूर्णतः हृदय में दिव्य रूप पर अटक गया। अचानक, आकृति विशेषकर विशद हो गई। मन को एकाग्र करने के लिए और कोई प्रयास की आवश्यकता नहीं रही। तब मैं सचमुच शिव जी की साक्षात् उपस्थिति का अनुभव कर पा रहा था। जो वात्सल्य और मन्दहास मैंने विशेषकर ईश्वर के ईशान-मुख (ऊपर की ओर मुख) में देखा, वे मुझे अब भी मन्त्रमुग्ध कर देते हैं। मैं आनन्द से अभिभूत था।

जैसा कि मुझे बाद में पता चला, लगभग डेढ़ घंटे के बाद — परन्तु उस समय जो मुझे केवल एक क्षण भर जैसा लग रहा था — मैं अपने शरीर के प्रति थोड़ा सचेत हुआ। मैंने अपने नेत्र खोले। मैं सूर्य को क्षितिज के समीप देख सकता था एवं कोमल वायु का अनुभव कर सकता था। साथ ही, मैं अपने हृदय-कमल में अम्बा के साथ जुड़े हुए भगवान को स्पष्ट रूप से देख पा रहा था। प्रभु भीतर से प्रकट होकर फैलते हुए प्रतीत हुए। ॐ-कार की एक गहरी लम्बी ध्वनि सुनाई दे रही थी। तब मैंने निश्चित रूप से शिव जी को अपने सामने और अपने सम्मुख देखा। वाह, क्या अद्भुत दृश्य था!

{उस समय, गुरुजी कुछ समय के लिए चुप हो गए, उनका मुखमण्डल आनन्द से खिल उठा। एक मिनट से अधिक समय के बाद, गुरुजी ने अपना विवरण आगे बढ़ाया, परन्तु उनका स्वर कुछ फुसफुसाहट-सा हो गया और वे तन्मय होकर अपने आपको भूले हुए-से अचूक दीख पड़ते थे।}

(**गुरुजी** -) मेरी आँखों से आनन्द के आँसू बह निकले व मेरे रोंगटे खड़े हो गए। प्रभु के होंठ हिले और मैंने उनकी बहुत प्यारी वाणी सुनी। उनके शब्द थे —

वत्स, श्वःप्रभृत्यत्र निराकारे परे तत्त्वे मनः समाधत्स्व। अचिरेण ब्रह्मसंस्थो भविष्यसि।

(गुरुजी के प्रति परमशिव जी के शब्द)

(मेरे वत्स! कल से निराकार परतत्त्व पर अपना मन यहाँ लगाओ। तुम शीघ्र ही ब्रह्म में स्थापित हो जाओगे।)

तब शिव जी ने मेरे सिर पर हाथ रखकर मुझे आशीर्वाद दिया। ऐसा करने के बाद, वे अन्तर्धान हो गए। मेरे जैसे नगण्य एवं भक्ति में कमी वाले व्यक्ति पर, अपनी इतनी बड़ी कृपा प्रदान करने के लिए वे कितने दयालु हैं!

जैसे ही वे अन्तर्धान हुए, वहाँ बूँदा-बाँदी हुई। कुछ ही क्षणों में सूर्यास्त हो गया; साथ ही, बूँदा-बाँदी भी थम गई। जैसा कि मैंने पहले ही कहा था, जब मैं ध्यान के लिए बैठा, तो आकाश पूर्णतः स्वच्छ था। यहाँ तक कि जब सूर्यास्त हुआ, तब भी मेघ दिखाई नहीं दे रहे थे। वहाँ वर्षा होने पर सूर्य भली-भाँति दिखाई दे रहा था और उससे मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि ईश्वर मुझे गङ्गा में एक कोमल स्नान से आशीर्वाद दे रहे हैं।

{1975 में एक सन्ध्याकाल, जब गुरुजी नरसिंहवन के खेतों में टहल रहे थे, तब बूँदा-बाँदी होने लगी। गुरुजी ने मन्दहास सहित उद्गार किया, "गङ्गा-स्नान!" फिर उन्होंने मुझे समझाया कि कहा गया है कि जब सूरज दिखाई देता है तब वर्षा में भीगना पवित्र गङ्गा में स्नान करने जैसा है।}

(**गुरुजी** -) आनन्दातिरेक की स्थिति में, मेरे मन में स्वतःस्फूर्त छंदों के माध्यम से, मैंने परमेश्वर को प्रणाम और उनकी स्तुति प्रारम्भ कर दी। मेरा स्वर गद्गद था और अगर कोई संगीतकार आसपास होता, तो वह मेरे कर्णकटु गायन पर स्तम्भित होता। (यह कहते हुए गुरुजी हँस पड़े।)

मैं - क्या गुरुजी मुझे उन श्लोकों को सुनाकर मुझ पर कृपा करेंगे?

गुरुजी - मैंने उन श्लोकों को लिखने की दिशा में ध्यान नहीं दिया और न ही वे मेरी स्मृति में हैं। मैंने उन्हें कोई महत्त्व नहीं देते हुए, बाद में न ही उनके बारे में सोचा और न ही उन्हें कण्ठस्थ किया। आख़िरकार, वे एक अनजान बालक की बकबक थे, न किसी महात्मा की या कुछ साहित्यिक मूल्य की रचनाएँ। अब उन श्लोकों के बारे में बस इतना बता सकता हूँ कि वे दस थे एवं भुजङ्ग-प्रयात छन्द में थे। (भुजङ्ग-प्रयात छन्द में, चार पादों में से प्रत्येक में 12 अक्षर होते हैं। प्रत्येक पाद के अक्षर "लघु-गुरु-गुरु" दोहराव क्रम में होते हैं।)

श्लोकों के उच्चारण के पश्चात्, मुझे पुनः ध्यान करने की तीव्र इच्छा हुई। चूँकि परमेश्वर ने मुझे साक्षात् गुरु के रूप में निर्देश दिया था, इसलिए मैंने उनका ध्यान दक्षिणामूर्ती के, अर्थात् गुरु के, रूप में करने का विचार किया। मेधा-दक्षिणामूर्ति-मन्त्र का मानसिक जाप करते हुए, मैंने मेरे हृदय-कमल में उन्हें अपने चार हाथों में माला, अमृत-कलश, पुस्तक और ज्ञान मुद्रा के साथ देखा।

{मेधा-दक्षिणामूर्ति मन्त्र है —

ॐ नमो भगवते दक्षिणामूर्तये मह्यं मेधां प्रज्ञां प्रयच्छ स्वाहा॥

दक्षिणामूर्ति-उपनिषद् में इसका जो ध्यान-श्लोक प्रस्तुत किया गया है, वह इस प्रकार है —

स्फटिक-रजत-वर्णं मौक्तिकीमक्षमाला-
ममृतकलश-विद्या-ज्ञानमुद्राः कराब्जैः।
दधतमुरगकक्ष्यं चन्द्रचूडं त्रिनेत्रं
विधृत-विविधभूषं दक्षिणामूर्तिमीडे॥

(मेधा दक्षिणामूर्ति मन्त्र का ध्यान श्लोक, दक्षिणामूर्ति-उपनिषद् 3)

(स्फटिक एवं चन्द्रमा के रंग वाले, अपने कमल-समान हाथों में मोतियों की माला, अमृत का कलश, पुस्तक एवं (अंगूठे के छोर को तर्जनी के छोर से छूकर, अन्य तीन अंगुलियाँ सीधे रखते हुए) ज्ञानमुद्रा को धारण करने वाले, तीन आँखों वाले और विभिन्न आभूषणों से भूषित दक्षिणामूर्ति की मैं स्तुति करता हूँ, जिनके कटिबन्ध के रूप में एक सर्प है और जिनके शिखर में चन्द्रमा है।)

प्रामाणिक तान्त्रिक कृति, शारदा-तिलक के 19वें अध्याय के 31वें श्लोक में दिए गए उसी श्लोक के तीसरे पाद में, '**कक्ष्यं**' के स्थान पर '**कक्षं**' है। इस पाठभेद से श्लोक का अर्थ नहीं बदलता।}

मैं - क्या गुरुजी ने पहले नेत्रों को भौंहों के बीच में निर्देशित करके दक्षिणामूर्ति पर ध्यान प्रारम्भ किया था?

गुरुजी - नहीं, मैंने सीधे अपने हृदय-कमल में उनकी आकृति की कल्पना की। परिवेश एवं शरीर के प्रति जागरूकता लुप्त हो गई। तत्पश्चात्, मन्त्र का मानसिक जाप अपने आप रुक गया और मेरा ध्यान केवल आकृति पर था। किसी भी प्रकार के विचलित करने वाले विचार नहीं थे। ध्यान गहरा था और रूप पूर्णतः स्पष्ट था। जब मैं शरीर के बारे में सचेत हुआ और अपनी आँखें खोलीं, तब मुझे सूर्य के प्रकाश का कोई अवशेष नहीं मिला। हालाँकि, वह स्थान चन्द्रमा के आलोक से प्रकाशित था। तारे दिखाई दे रहे थे।

कुछ क्षण बाद ही मुझे पता चला कि मेरी गर्दन पर कुछ था। एक बड़ा नाग मेरे गले में शिथिल कुण्डलित हुआ था। उसका उठा हुआ फण मेरे दाहिने कन्धे के पास था और मुझसे विमुख था। मैंने भुजङ्ग-भूषण (शिव जी का एक विशेषण, जिसका अर्थ है, "वह जो एक साँप को आभूषण के रूप में धारण करता हो") पर ध्यान किया था और अब एक नाग मेरे शरीर पर एक आभूषण के रूप में था। इसे भगवान की कृपा का सङ्केत मानते हुए, मुझे बहुत आनन्द हुआ। मैंने नाग को मृदुता से सहलाया। ऐसा लग रहा था कि साँप को वह अच्छा लगा और उसने अपना सिर मेरे दाहिने गाल पर टिका दिया। कुछ समय — लगभग पाँच मिनट — बाद, साँप धीरे-धीरे अपने आप को खोलकर चला गया। मैं उठा और चन्द्रमा के प्रकाश में अपना मार्ग देखते हुए पहाड़ी से नीचे चला गया।

पहाड़ी की तलहटी में, मैंने अपने सेवक को दीपक के साथ प्रतीक्षा करते हुए पाया। यह अभूतपूर्व था, क्योंकि पिछले अवसरों पर, मेरा परिचारक, जिसकी बारी होती थी, पहाड़ी पर बिना किसी दीपक के, मेरा पीछा करता था। वापस चलते समय, मेरे प्रश्न के उत्तर में उसने कहा कि उसे बुलाने के बाद, गुरुजी ने निर्देश दिया कि ढाई घंटे के बाद, पहाड़ी की तलहटी में, अपने हाथ में दिया लेकर मेरी प्रतीक्षा करना। जब मैं नीचे उतरा तो वह कुछ ही मिनटों की प्रतीक्षा कर रहा था। मेरे लिए यह स्पष्ट था कि गुरुजी को उस समयावधि का सटीक पूर्वानुमान था जो मैं पहाड़ी पर बिताने जा

रहा था। मैंने यह भी समझ लिया कि मेरे ध्यान का दूसरा सत्र, जो सर्वथा अनियोजित था, लगभाग एक घंटे तक चला था।

मैं गुरुजी को घटनाओं की सूचना देना चाहता था, परन्तु चूँकि मेरे उनके दर्शन करने का सामान्य समय अगले दिन मेरे प्रातराह्निक के बाद होता, मैं अपने कमरे में लौट गया। हालाँकि, कुछ ही पलों में मुझे सन्देश मिला कि गुरुजी मुझे बुला रहे हैं। मुझे पता चला कि गुरुजी अपने सांयकालीन आह्निक में लगे हुए थे। मैं उनकी उपस्थिति में गया और दण्डवत् प्रणाम किया। उसके बाद, मैं चुपचाप खड़ा रहा। वे एक जप के अनुष्ठान के बीच में थे। उसे समाप्त करने के बाद, उन्होंने स्मितमुख होकर मेरी ओर देखा और कहा, "आज आपको परमेश्वर के विशेष अनुग्रह एवं निर्देश प्राप्त हुए हैं। अन्त में, कुछ समय के लिए, आप भुजङ्ग-भूषण थे। क्या ऐसा नहीं था?" मैंने उत्तर दिया, "हाँ," और यह भी कहा कि वह सब मेरे ध्यान करने जाने से पहले, मुझ पर बरसाए गए गुरुजी के आशीर्वाद का परिणाम था।

चूँकि गुरुजी ने स्पष्टतः व्यक्त कर दिया था कि वे इस बात से भली-भाँति परिचित थे कि पहाड़ी पर क्या हुआ था, इसलिए मेरे लिए कोई विवरण देना अनुचित होता। गुरुजी ने कहा, "आपके सायंकालीन स्नान के लिए विलम्ब हो रहा है। अब आप स्नान के लिए जा सकते हैं और अपने आह्निक का अनुष्ठान कर सकते हैं।" मैंने दण्डवत् प्रणाम किया और सीधे स्नान के लिए चला गया।

उस रात, मेरा एक स्वप्न था जिसमें भगवान शिव जी नटराज के रूप में भव्य नृत्य कर रहे थे और उन्हें अम्बा देख रही थीं। कुछ समय बाद, यह दृश्य दूसरे दृश्य में बदल गया, जिसमें शिव जी अम्बा के साथ अर्धनारीवर के रूप में प्रकट हुए। स्वप्न में ही मैंने भगवत्पाद जी के अर्धनारीश्वर स्तोत्र का पठन करते हुए, शिव-शक्ति को प्रणाम किया। उसके पश्चात्, दृश्य बदल गया जिसमें ईश्वर अपने दक्षिणामूर्ति के रूप में गूलर के वृक्ष के तले बैठे थे और मैं उनके समक्ष दण्डवत् प्रणाम कर रहा था। मैंने स्वयं को प्रभु में विलीन होते हुए पाया। मेरे ईश्वर के साथ एकीभूत होने के साथ, अपना स्वप्न समाप्त हो

गया और मैं जाग गया। प्रातः के 4:30 बज रहे थे। भगवान से मिली आज्ञा के अनुसार, उस एकादशी की सन्ध्या मैंने निराकार पर अपना ध्यान प्रारम्भ किया।

12. ब्रह्म पर तीव्र मनन और एकाग्रता

[*1981 अक्टूबर के अन्तिम सप्ताह में मैसूर में अपने शिविर के समय, गुरुजी ने मुझसे कहा, "कुछ महीने पहले, परम तत्त्व के सगुण पहलू पर मेरी समाधि की प्राप्ति के बारे में मैं जो कुछ भी स्मरण कर सकता था, वह सब कुछ मैंने तुम्हें बताया था। इसके साथ, जहाँ तक मैं जानता हूँ, मेरी आध्यात्मिक साधना के अन्तिम चरण (तत्त्व-साक्षात्कार के लिए आध्यात्मिक अभ्यास) के विवरण के अतिरिक्त, इसके बारे में मैं तुम्हें लगभग सब कुछ प्रकट कर चुका हूँ। इतने वर्षों तक, मैंने अपने लड़कपन की उन घटनाओं के बारे में नहीं सोचा था। मुझे लगता है कि भगवान चाहते थे कि मैं उन्हें अनुस्मरण करूँ, और मुझे ऐसे प्रेरित करने हेतु, तुम्हें एक निमित्त के रूप में उपयोग किया।*

"मुझे पता है कि हर अवसर पर मुझसे ऐसी जानकारी पाकर तुम्हें कितनी प्रसन्नता हुई है। मैं स्वयं तुम्हें अन्तिम चरण के बारे में भी बताऊँगा। उससे पूर्व, मोदार्थ और अपनी स्मृतियों को स्पष्ट करने के लिए, मैंने उस समय जो कहा था, उसे दोहराना चाहूँगा। मुझसे विवरण सुनने के बाद, तुम भी वैसा करो और मुझे प्रतिवेदित करो।"

1982 जनवरी में जब गुरुजी चेन्नई (तब मद्रास) में थे, तब उन्होंने अपनी आध्यात्मिक साधना की अपनी दिव्य-लीला के अन्तिम चरण के बारे में विस्तार से बताया। चूँकि उनका कार्यक्रम खचाखच व्यस्त था, इसलिए उन्होंने लघु निजी सत्रों में ऐसा किया। साधना से सम्बन्धित अन्तिम तीन दिनों तक के संवादों को एकत्रित कर, उत्तर ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है।]

गुरुजी - एक सायंकाल, सूर्यास्त से लगभग एक घंटे पहले, मैं पहाड़ी पर गया। तब तक मैं परब्रह्म पर शिव, विष्णु या अम्बा इत्यादि आकार सहित दिव्य रूप पर ध्यान कर रहा था। हालाँकि, उस सन्ध्या, मैंने अपने मन को सर्वोच्च पर बिना आरोपित आकार और क्रियाओं के — एकाग्र करना चाहा। मैं पश्चिम की ओर मुख करके सिद्धासन में बैठ गया। तत्पश्चात्, शास्त्र के वचनों को आधार बनाकर और तर्क की सहायता से, मैंने परम तत्त्व पर ध्यान करने के लिए स्वयं को तैयार किया।

ब्रह्मविदाप्नोति परम्। (तैत्तिरीय-उपनिषद् 2.1.1)

(ब्रह्म को जानने वाला सर्वोच्च को प्राप्त करता है।)

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चनेति। (तैत्तिरीय-उपनिषद् 2.9.1)

(ब्रह्म के आनन्द को प्राप्त करने पर, प्रबुद्ध व्यक्ति को किसी का भय नहीं होता।)

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति।
(तैत्तिरीय-उपनिषद् 2.7.1)

(चूँकि, जब यह (अज्ञानी) इसमें (ब्रह्म में) थोड़ा सा भी भेद करता है तो (उस भेद करने के कारण) इसे भय प्राप्त होता है।)

मैंने इन वाक्यों को स्मरण किया और निम्नोक्त प्रकार चिन्तन किया। शास्त्र के इन वचनों से यह फलित होता है कि ब्रह्म के साक्षात्कार होने पर, मैं ब्रह्म के साथ एकीभूत हो जाऊँगा, जो सर्वोच्च है। दूसरी ओर, जब तक मुझे ब्रह्म का बोध नहीं होगा और मैं द्वैत को स्वीकार करता रहूँगा, तब तक बन्धन समाप्त नहीं होगा। वास्तव में, ज्ञान तो किसी वस्तु को नहीं सृजन करता, ना ही परिवर्तित करता। वह केवल उस वस्तु से सम्बन्धित अज्ञान को हटाता है। तो, अब भी मैं वस्तुतः ब्रह्म ही हूँ और ब्रह्म के अतिरिक्त विश्व का कोई अस्तित्व नहीं है। केवल अज्ञान के कारण, मैं उससे भिन्न प्रतीत होता हूँ और द्वैत का अनुभव करता हूँ। अन्यथा, शास्त्र वचनों के अनुसार, मेरे ब्रह्म-साक्षात्कार पाने से मुझे ब्रह्म बनने का तथा नानात्व का अन्त हो जाने का प्रश्न ही नहीं है।

त्वचा, रक्त, माँस, अस्थि इत्यादि से बना यह शरीर, अन्न पर निर्भर है और अचेतन, यानि जड़, है। वह पत्थर जैसे एक बाह्य पदार्थ के समान बोधगम्य है। जो भी जड़ और बोधगम्य है, वह उस ज्ञाता से भिन्न है जो चेतन है और उसे अनुभव करता है। मैं चेतन हूँ और शरीर को बूझता हूँ; जहाँ तक मेरा चैतन्य का प्रश्न है, वह स्वतःसिद्ध है। इसलिए मैं शरीर नहीं हूँ। वैसे ही, मैं प्राण नहीं हूँ। इन्द्रियाँ स्वयं जड़ हैं एवं अनुभव और क्रियाओं के उपकरण मात्र हैं। ऐसे में, मेरी इन्द्रिय होने की सम्भावना नहीं रहती।

मन परिवर्तनशील है और उत्पन्न एवं नष्ट हो जाने वाले विचारों तथा भावनाओं से बना हुआ है। मैं इन विचारों और भावनाओं से अवगत हूँ। मैं मन कैसे हो सकता हूँ, क्योंकि वह केवल चैतन्य का विषय है, जैसा कि एक पत्थर? एक विचार को प्रकट करने के लिए, मन से भिन्न और चैतन्य के अतिरिक्त दूसरा विचार ना तो आवश्यक हो सकता है, न ही पर्याप्त। इसका कारण यह है — पहले विचार को प्रकट करने वाले विचार को प्रकट करने हेतु, एक और विचार की आवश्यकता होगी; पुनः इस विचार को प्रकट करने के लिए एक और विचार की आवश्यकता होगी; और यह प्रक्रिया बनी रहेगी। इससे, अनवस्था दोष होगा।

सात्त्विक आहार मानसिक शुद्धता और शान्ति में सहायक होता है, जबकि राजसिक और तामसिक आहार मन पर प्रतिकूल असर डालते हैं। यह सुपरिचित है कि मद्य के भारी नशे में व्यक्ति की सोच बिगड़ जाती है। भुक्त आहार से प्रभावित होने वाला मन, एक भौतिक वस्तु है, यद्यपि सूक्ष्म है। यद्यपि वह चेतन सा प्रतीत होता है, तथापि मन, जो भौतिक है, जड़ है। मैं जो स्पष्टतः अचेतन नहीं हूँ, जड़ मन नहीं हो सकता।

"मैं देखता हूँ," "मैं सुस्त अनुभव करता हूँ" और "मैं यह करता हूँ" — ऐसी धारणाओं में 'मैं' से लक्षित जो कर्ता है, वह जाग्रत् एवं स्वप्न अवस्थाओं में व्यक्त है, किन्तु सुषुप्ति, अर्थात् गहरी नींद, के आरम्भ के साथ लुप्त हो जाता है। कोई गहरी नींद में नहीं होगा यदि उस समय उसे कोई धारणा हो जैसे, "मैं गहरी नींद में हूँ।" हालाँकि, मैं न केवल जाग्रत् एवं स्वप्न अवस्थाओं में विद्यमान हूँ, प्रत्युत गहरी नींद में भी। इसकी पुष्टि जागने पर सहजता से अनुभव किए जाने वाले — "गहरी नींद के समय, मैं सुख से सोया। उस समय मुझे कुछ नहीं पता था" — इस परिज्ञान से होती है। चूँकि सुषुप्ति में कर्ता मिट जाता है, किन्तु मैं विद्यमान रहता हूँ, इसलिए मैं इस 'मैं'-प्रतीति से चिह्नित कर्ता नहीं हो सकता।

कर्तृत्व में परिवर्तन सम्मिलित है और वह बुद्धि से सम्बन्धित है। यद्यपि दर्पण सूर्य के प्रकाश को प्रतिबिम्बित करता है और उज्ज्वल दिखता है, तथापि वह

आन्तरिक रूप से प्रकाश का स्रोत नहीं है। उसी प्रकार, बुद्धि मूलभूत रूप से चेतन दिखने पर भी, इन्द्रियों जैसी भौतिक वस्तु होने के नाते, जड़ ही है। मैं बुद्धि का भी साक्षी हूँ, इसलिए उससे भिन्न हूँ।

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रिय-गोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥

(भगवद्गीता 13.5,6)

(महाभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी), अहङ्कार, बुद्धि और स्वयं अव्यक्त (प्रकृति); दस इन्द्रियाँ और मन; इन्द्रियों के पाँच विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध); इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, (शरीर एवं इन्द्रियों का) समुच्चय, चेतना और धैर्य – यह विकारों सहित क्षेत्र का एक सङ्क्षिप्त विवरण है।)

भगवान के इन शब्दों से यह स्पष्ट है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि सभी ज्ञान के जड़ विषय हैं। चूँकि मैं स्वभाव से चैतन्य हूँ और उन सभी को प्रकाशित करने वाला हूँ, मैं निश्चित रूप से उनसे भिन्न हूँ।

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाएँ मेरे लिए न तो स्वाभाविक हैं और न ही पारमार्थिक रूप से सत्य। ऐसा इसलिए है क्योंकि यद्यपि मैं इन तीनों अवस्थाओं में अविकृत रहता हूँ, तथापि स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्थाओं में जाग्रदवस्था नहीं होती; जाग्रत् और सुषुप्ति अवस्थाओं में स्वप्नावस्था नहीं होती; तथा जाग्रत् एवं स्वप्नावस्थाओं में सुषुप्ति नहीं होती। मृगतृष्णा के समान जो प्रकट होता है और फिर लुप्त हो जाता है, वह कभी पारमार्थिक सत्य नहीं हो सकता। चूँकि उनका अन्त है, जाग्रत्, स्वप्न व सुषुप्ति की अवस्थाएँ मिथ्या हैं। मैं उनसे कलङ्कित नहीं हूँ, जैसे मृगतृष्णा से मरुस्थल।

विभिन्न वस्तुएँ सूर्य से प्रकाशित होती हैं, जो उनसे भिन्न और एक है। इसी प्रकार, जाग्रदवस्था में दिखने वाले पदार्थ विविध और विकारशील हैं, किन्तु उन सभी को प्रकाशित करने वाला चैतन्य उनसे अलग है और एक है। जैसे जाग्रदवस्था में, वैसे ही स्वप्नावस्था में देखे गए विकारशील, विविध पदार्थ

चैतन्य द्वारा प्रकाशित होते हैं, जो स्वयं स्थिर और एक है। गहरी नींद में, चैतन्य अज्ञान को प्रकट करता है। यह मानने का कोई आधार नहीं है कि इन तीनों अवस्थाओं में प्रकाशमान चैतन्य में कोई अन्तर है या वह किसी विकार का विषय है। निश्चित रूप से, प्रकट की गई वस्तुएँ उस वस्तु में कोई विकार नहीं स्थापित कर सकती हैं, जो उन्हें प्रकाशित करती है। इसके अतिरिक्त, चेतना स्वयं में किसी विकार की साक्षी नहीं हो सकती। यह निर्विकार चैतन्य मेरे अतिरिक्त अन्य नहीं हो सकता। श्रुति-प्रमाण के आधार पर, मैं परब्रह्म हूँ।

ब्रह्म के बारे में श्रुति कहती है —

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। (तैत्तिरीय-उपनिषद् 2.1.1)

(ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है।)

जो कभी भी — भूत, वर्तमान और भविष्य में — बाधित नहीं होता, केवल वही सत्, अथवा सत्य है। जो विकार का विषय है, उसे सत्य नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार, ब्रह्म सदैव निर्विकार था, है और रहेगा। यह पारमार्थिक सत् है। ब्रह्म को यहाँ ज्ञान कहा गया है, न कि ज्ञातृ, अर्थात् जानने वाला। इस प्रकार, वह स्वयं चैतन्य-स्वरूप ही है। जो काल, देश या वस्तुओं द्वारा सीमांकित किया जाता है, वह अप्रतिबन्धित रूप से अनन्त नहीं है। चूँकि श्रुति घोषणा करती है कि ब्रह्म अनन्त है, इसे काल, देश या वस्तुओं द्वारा परिसीमित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार, ऐसा कोई काल नहीं है जब वह अनुपस्थित है; ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ ब्रह्म विद्यमान नहीं है; और कोई वस्तु है ही नहीं जो ब्रह्म से अलग विद्यमान है।

निम्नोक्त शब्दों से यह स्पष्ट है कि सब कुछ ब्रह्म पर आधारित है —

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। (तैत्तिरीय-उपनिषद् 2.1.1)

(उस ब्रह्म से ही — जो कि यह आत्मा है — आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु उभरकर आई। वायु से अग्नि उत्पन्न हुई। अग्नि से जल बना। जल से पृथिवी उत्पन्न हुई।)

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभि-संविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।

(तैत्तिरीय-उपनिषद् 3.1.1)

(जिससे ये सभी भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने के बाद, वे जिसके कारण जीते हैं, जिसमें वे जाते हैं और जिसमें वे विलीन हो जाते हैं — उसको सही ढंग से जानने का प्रयास करो। वह ब्रह्म है।)

चूँकि ब्रह्म अपरिवर्तनशील है, इसलिए, वास्तव में उसके आकाश-तत्त्व में रूपान्तरित होने का या वास्तव में कुम्हार के मटके बनाने जैसा आकाश को उत्पन्न करने का कोई प्रश्न ही नहीं है। इसलिए, आकाश और अन्य तत्वों को ब्रह्म में मात्र दिखावा होना चाहिए, जैसे मरुस्थल में मृगतृष्णा। उनका ब्रह्म के अतिरिक्त कोई अस्तित्व नहीं है।

स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः।

(तैत्तिरीय-उपनिषद् 2.8.5)

(वह जो इस मनुष्य व्यक्ति में है और जो वहाँ आदित्य में है, वह एक है।)

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(भगवद्गीता 6.29,30)

(जिसका मन योग में लीन है और जो सर्वत्र समभाव से देखता है, वह सभी प्राणियों में आत्मा को विद्यमान और आत्मा में सभी प्राणियों को विद्यमान देखता है। वह जो सर्वत्र मुझे और मुझमें सब कुछ देखता है — उसकी दृष्टि से मैं दूर नहीं जाता और वह भी मेरी दृष्टि से नहीं चूकता।)

तदनुसार, ब्रह्म, जो कि पारमार्थिक सत्, शुद्ध चैतन्य और अनन्त है, प्रत्येक प्राणी की आत्मा के रूप में प्रकाशमान है। विश्व के रूप में प्रतीत होते हुए भी, वह अद्वैत है और किसी भी प्रकार से अप्रभावित है। जैसे शास्त्र सिखाते हैं, मैं वस्तुतः स्वयं परब्रह्म हूँ, जो सभी की आत्मा है। मैं अन्यथा न कभी

था, न हूँ और न रहूँगा। गुरुजी और ईश्वर की कृपा से, उस दिन के मेरे मनन के परिणामस्वरूप, मुझे इस सम्बन्ध में बोध की बड़ी स्पष्टता, संशयों से मुक्ति तथा दृढ़ विश्वास प्राप्त हुए।

अहमेव परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम्। (ब्रह्मानुचिन्तनम् 1)

(मैं वास्तव में सर्वोच्च ब्रह्म हूँ, जो क्षय-रहित है और (सभी में निवास करने वाला और प्रकाशमान) वासुदेव के रूप में कहा जाता है।)

मेरे मन में ये शब्द आए, जो उस निष्कर्ष को सही ढंग से चित्रित करते थे जिस पर मैं पहुँचा था। मुझे लगा कि मैं सर्वोच्च पर गहराई से ध्यान केन्द्रित करने के लिए सज्जित हूँ।

{शास्त्र में 'वासुदेव' शब्द का प्रयोग सर्वोच्च के सन्दर्भ में किया गया है जैसा कि गुरुजी द्वारा सहज रूप से स्मरण किए गए भगवत्पाद के श्लोक में किया गया है। भगवद्गीता में भगवान कहते हैं —

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवस्सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ (भगवद्गीता 7.19)

कई जन्मों के अन्त में, तत्त्वज्ञानी (यह बोध पाते हुए कि) वासुदेव ही सब कुछ है, मुझे प्राप्त कर लेता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

अपने गीता-भाष्य के उपोद्घात में भगवत्पाद जी लिखते हैं —

परमार्थतत्त्वं च वासुदेवाख्यं परब्रह्म-अभिधेयभूतं विशेषतोऽभिव्यञ्जयत् गीताशास्त्रम्।

गीता-शास्त्र विशेष रूप से उस विषय की व्याख्या करता है, जो पारमार्थिक सत्य, परब्रह्म है, जिसे वासुदेव के नाम से जाना जाता है।

महाभारत के मोक्षधर्म में, भगवान के निम्नोक्त शब्द उपलब्ध हैं —

छादयामि जगद्विश्वं भूत्या सूर्य इवांशुभिः।
सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततः स्मृतः॥ (महाभारत 12.328.36)

जैसे सूर्य अपनी किरणों से समग्र विश्व को आच्छादित करता है, उसी प्रकार मैं अपनी महिमा से सारे विश्व को आच्छादित करता हूँ। साथ ही, मैं सभी में बसता हूँ। इसलिए मुझे वासुदेव के नाम से जाना जाता है।

विष्णु-पुराण में कहा गया है —

सर्वाणि तत्र भूतानि वसन्ति परमात्मनि।
भूतेषु च सर्वात्मा वासुदेवस्ततः स्मृतः॥ (विष्णु-पुराण 6.8.80)

सभी प्राणी परमात्मा में रहते हैं और सभी प्राणियों में सर्वात्मा रहता है। इसीलिए, उन्हें वासुदेव कहा जाता है।}

मैं - क्या इससे पहले परमगुरुजी ने गुरुजी को तैत्तिरीय-उपनिषद् और उस पर भगवत्पाद जी के भाष्य की व्याख्या की थी?

गुरुजी - नहीं, हालाँकि, मैं तैत्तिरीय-उपनिषद् को रुद्रप्रश्न, चमक, सूक्तों और महानारायण-उपनिषद् के साथ सीखकर कण्ठस्थ जानता था। गुरुजी ने वर्षों बाद ही मेरे लिए उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र पर भाष्यों की कक्षाएँ लीं।

मैं - तो फिर, गुरुजी ने तैत्तिरीय-उपनिषद् के मन्त्रों के आधार पर अपना चिन्तन क्यों किया?

गुरुजी - मैंने बस ऐसा करने के लिए स्वयं को प्रेरित और निर्देशित अनुभव किया। यद्यपि मैं संस्कृत से परिचित था, मुख्य रूप से दैवानुग्रह के कारण था कि तब उपनिषद् की शिक्षाओं के अर्थ और तात्पर्य को मैंने सही ढंग से समझा। गुरुजी ने जब मुझे तैत्तिरीय-उपनिषद्-भाष्य पढ़ाया, तभी मैंने पूर्ण रूप से पहचाना कि उन पंक्तियों की मेरी समझ पूरी तरह से भाष्य के अनुसार थी।

मैं - ध्यान से पहले का चिन्तन कितने समय तक चला?

गुरुजी - सम्भवतः लगभग 45 मिनट तक। उस समय, यद्यपि मैंने विशेष रूप से, अपनी आँखें मूँद रखीं थीं, तथापि मैंने परिवेश की ओर कदाचित् ही ध्यान दिया। सूर्यास्त से लगभग एक घंटे पहले, मैं पहाड़ी पर आया था।

अपना ध्यान प्रारम्भ करने से पहले, मैंने मलहानिकरेश्वर मन्दिर और सूर्य की ओर देखा। ऐसा लग रहा था कि सूर्य 15 मिनट में अस्त हो जाएगा।

मैंने सदैव की भाँति, अपनी भौंहों के बीच के स्थान पर अपनी टकटकी निर्देशित की और प्रणव का उच्चारण करके, अपना ध्यान प्रारम्भ किया। सदैव की भाँति, मुझे एक नीली रंगत दिखाई दी। तब, मैंने किसी दिव्य रूप पर ध्यान करने के बदले, मानसिक रूप से एक बार निम्नोक्त शब्दों का जाप किया —

अहमेव परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम्। (ब्रह्मानुचिन्तनम् 1)

(मैं वास्तव में सर्वोच्च ब्रह्म हूँ, जो क्षय-रहित है और (सभी में निवास करने वाला और प्रकाशमान) वासुदेव के नाम से जाना जाता है।)

फिर, मन्त्र के समान शब्दों को जपे बिना, मैंने प्रकाशित तात्पर्य को दृढ़ता से अपने चित्त में रखा। तुरन्त, मैंने अनुभव किया कि मैं आकाश की भाँति फैल रहा हूँ और व्यापक हो रहा हूँ। आनन्द की एक बड़ी लहर उठी और मुझे डुबो दिया। ऐसे लगने के बाद कि बस कुछ ही क्षण बीत चुके हैं, मुझे शरीर के बारे में थोड़ी जागरूकता प्राप्त हुई; वस्तुतः लगभग 30 से 45 मिनट बीत चुके थे।

मैं - ब्रह्मानुचिन्तन के श्लोक में उक्त प्रकार से व्यापक होने की भावना का गुरुजी के मनन पर क्या प्रभाव पड़ा?

गुरुजी - मेरे शरीर आदि से सीमित होने की धारणा का विरोध करके, इसने अपने मनन को बहुत तीव्र कर दिया। आकाश की भाँति सर्वव्यापि अनुभव करते समय, मुझे अन्धकार या प्रकाश का कोई भी ज्ञान नहीं था। फलित एकाग्रता की तीव्रता इतनी थी कि मैं एक प्रकार से निर्विषय चैतन्य एवं आनन्द के रूप में बना रहा।

मैं - क्या प्राप्त उस अवस्था को गुरुजी समाधि में सम्मिलित करेंगे?

गुरुजी - नहीं। यह केवल गहन ध्यान की अवस्था थी। ब्रह्म होने के विचार को धारण करने के प्रयास की आवश्यकता लुप्त नहीं हुई। इसके अतिरिक्त,

मुझ में कुछ जागरूकता निरन्तर बनी रही कि मैं ध्यान कर रहा था। यद्यपि यह समाधि नहीं थी, तथापि इस अनुभव का मेरे पहले के मनन द्वारा उत्पन्न दृढ़ विश्वास को और दृढ़ बनाने का प्रभाव रहा।

अगले दिन, मैंने उस सायंकालीन विचार को दो बार मानसिक रूप से दोहराया। उस सन्ध्या, पर्वत के शिखर पर मेरे ध्यान के स्थल पर बैठने के बाद, मैंने इस प्रकार गम्भीरतापूर्वक सोचा — "विषयों की वृत्तियाँ मन में उठती हैं और विषयों को दर्शाती हैं; तथा 'अहं'-वृत्ति ('मैं'-प्रत्यय) मन में उदित होकर कर्ता को प्रकाशित करती है। मन के बाह्य विषयाकार परिणामों जैसे सुख, दुःख आदि भी केवल मन के परिणाम ही हैं। कर्ता का तथा 'अहं' का भाव अपेक्षाकृत मौलिक हैं; और इनमें बड़ी विविधता नहीं रहती है जिस प्रकार विषय-वृत्तियों में होती है। तथापि, यहाँ तक कि कर्तृत्व तथा 'अहं'-वृत्ति मन से सम्बन्धित है, न कि आत्मा से।

"आत्मा शुद्ध चैतन्य है तथा सदा निर्विकार है। ऐसे होने के कारण, आत्मा कभी भी न तो मन हो सकती है और न ही मन से किसी भी प्रकार से प्रभावित हो सकती है। फिर भी, मन के साथ आत्मा की झूठी पहचान करने पर, व्यक्ति स्वयं को कर्ता मानता है और — 'मैं इसे देखता हूँ', 'यह मेरा है', 'मैं सुखी हूँ' और 'मैं दुःखी हूँ' — इस प्रकार की धारणाओं को प्रामाणिक मानता है। यह तो सुनिश्चित है कि केवल सही ज्ञान ही अज्ञान और मिथ्याबोध को दूर कर सकता है। मैंने सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए, कल शास्त्रों के शब्दों को स्मरण किया और अपने आप को संशयों से मुक्त करने तथा अपनी समझ को स्पष्ट करने हेतु, तर्क का उपयोग किया। फिर, स्वेच्छा से मैंने अपने वास्तविक स्वरूप के बारे में सोचा, जैसा कि अपने द्वारा पहचाना गया और उस धारणा को बनाए रखा। सौभाग्यवश, कोई अन्य विचार नहीं उभरा और न ही मेरे ध्यान को बाधित किया।"

इस मोड़ पर, मुझे अचानक लगा कि जैसे किसी के पैर के तलवे में चुभे काँटे को निकालने के लिए काँटे का उपयोग किया जाता है, वैसे ही अपना अवधान आत्मा की ओर निर्देशित करने के साधन के रूप में, मैं अपनी

अवाञ्छित मानसिक गतिविधि का उपयोग भली-भाँति कर सकता हूँ। मैंने विचार किया, "वस्तुतः आत्मा निर्विषय, शुद्ध चैतन्य है जो ब्रह्म से अभिन्न है। आत्मा 'अहं' और अन्य वृत्तियों की भी साक्षी है। इसलिए, उत्पन्न होने वाली किसी भी वृत्ति को महत्त्व देने या दबाने के बदले, मैं केवल आत्मा पर उस वृत्ति की साक्षी के रूप में मनन कर सकता हूँ। वह वृत्ति तब एक विक्षेप बनने के बदले, आत्मा को लक्षित कर पाएगा।

"यदि मैं उदासीन साक्षी के रूप में उस वृत्ति से पीछे हटकर खड़ा हो जाऊँ, तो वह वृत्ति उत्तेजना से वञ्चित होगी और उसको शीघ्र ही विलुप्त होना पड़ेगा। इसलिए, आत्मा की ओर मुड़ने के लिए मेरी वृत्ति का उपयोग करने से, वृत्ति को बनाए रखने के अनिष्ट परिणाम नहीं होने चाहिए। ऐसा नहीं है कि मन के पूर्णतः निश्चल होने पर ध्यान रुक जाएगा। ऐसा इसलिए क्योंकि मेरा उद्देश्य वृत्तियों की साक्षी बनना नहीं, अपितु आत्मा के रूप में रहना है, जो मन पर किसी भी प्रकार की निर्भरता के बिना, स्वयं-प्रकाश है।"

इस प्रकार मैंने दो-तीन मिनट के लिए सोचा। मैंने जो योजना बनाई थी, उसे क्रियान्वित करने के लिए, मुझे अपने ध्यान के प्रारम्भिक चरण में मन में कुछ वृत्ति की आवश्यकता थी। परन्तु, ध्यान करते समय, मेरा मन भटकने वाला सर्वथा नहीं था। मैंने तय किया कि किसी वृत्ति को स्वेच्छा से उत्पन्न करने के बदले, बिना किसी विलम्ब के, ध्यान करने की मेरी उत्सुकता का ही आश्रय लूँ। जैसे जब कोई खाता है, तब खाने की उसकी इच्छा शान्त हो जाती है, वैसे ही ध्यान करने की इच्छा, मेरे ध्यान में संलग्न होने के साथ स्वयं मिट जाएगी। इसलिए, वृत्ति के बने रहने की समस्या का सामना मुझे नहीं करना पड़ेगा। मैंने स्वयं को स्मरण दिलाया कि मैं देश, काल और वस्तुओं से असीमित शुद्ध चैतन्य हूँ; फिर अपना ध्यान प्रारम्भ किया।

मैं - क्या गुरुजी ने टकटकी को भौंहों के बीच के स्थान की ओर निर्देशित करना और एक रंगत को वहाँ प्रतीत होने का अवसर देना छोड दिया?

गुरुजी - हाँ, क्योंकि मैंने ध्यान करने की जिस इच्छा का उस समय स्वेच्छा पूर्वक ग्रहण किया था, उसे उसी समय उपयोग करके ध्यान करना चाहता

था। उस इच्छा के साक्षी के रूप में आत्मा पर मनन प्रारम्भ करने में मुझे कोई कठिनाई नहीं हुई। इससे लगभग तुरन्त बाद, विषय के रूप में जो मनोवृत्ति थी, वह लुप्त हो गई। केवल पृथक की गई 'अहं'-वृत्ति बनी रही। मैंने शुद्ध, असीमित चैतन्य के लक्षण-स्वरूप साक्षी होने की भावना बनाए रखी। शीघ्र ही, 'अहं'-वृत्ति भी लगभग पूर्णतः फ़ीकी पड़ गई। तब मन अत्यन्त स्थिर था और उसे वैसे बनाए रखने के लिए किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं थी।

चैतन्य, बिना किसी विषय के और सीमाओं के, स्पष्ट रूप से प्रकाशमान था। मैं आनन्द से अभिभूत था, जो पिछली सन्ध्या की तुलना में कहीं अधिक था। आनन्द और अपने बीच, किसी भी भेद का भान लगभग अनुपस्थित था। इस प्रकार लगभग एक घंटा बीत गया, किन्तु मैं समय बीतने से पूर्ण रूप से अचेत था। तत्पश्चात्, मैं सविकल्पक-समाधि से उभरा और धीरे-धीरे शरीर के प्रति सचेत हुआ।

{आत्मा-ब्रह्म पर सविकल्पक/सम्प्रज्ञात समाधि का लक्षण मुक्तिका-उपनिषद् इस प्रकार कहता है —

ब्रह्माकार-मनोवृत्ति-प्रवाहोऽहङ्कृतिं विना।
सम्प्रज्ञात-समाधिः स्याद्ध्यानाभ्यास-प्रकर्षतः॥ (मुक्तिका-उपनिषद् 53)

(बिना अहंभाव के, ब्रह्माकार चित्तवृत्तियों का प्रवाह सम्प्रज्ञात-समाधि है। वह ध्यान के अभ्यास में उत्कृष्टता से उत्पन्न होती है।)

'सर्ववेदान्त-सिद्धान्त-सार-सङ्ग्रह' — जो भगवत्पाद जी की रचना माना जाता है — उसमें यह कहा गया है —

ज्ञात्राद्यविलयेनैव ज्ञेये ब्रह्मणि केवले।
तदाकाराकारितया चित्तवृत्तेरवस्थितिः॥
सद्भिः स एव विज्ञेयः समाधिः सविकल्पकः।
मृद एवावभानेऽपि मृण्मयद्विपभानवत्॥
सन्मात्रवस्तुभानेऽपि त्रिपुटी भाति सन्मयी।
समाधिरत एवायं सविकल्प इतीर्यते॥

(सर्ववेदान्त-सिद्धान्त-सार-सङ्ग्रह 820-822)

ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय (जानने वाला, जानने की क्रिया और ज्ञान का विषय) — इनके भेद को भङ्ग किए बिना, ब्रह्म के रूप में मनोवृत्ति की निरन्तरता ही बुद्धिमानों द्वारा सविकल्प-समाधि के रूप में जाना जाता है। चूँकि जैसे केवल मिट्टी दिखाई देने पर भी, मिट्टी से बना हाथी देखा जाता है, वैसे ही पारमार्थिक-सत्-स्वरूप ब्रह्म अभिव्यक्त होते हुए भी, ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय त्रिपुटी के भान उपस्थित है, इसलिए इस समाधि को सविकल्प कहा जाता है।}

(**गुरुजी** -) जब मैंने अपनी आँखें खोलीं, तो मैंने देखा कि सूर्यास्त से लगभग आधा घंटा पहले का समय था। कुछ मिनटों तक मानसिक रूप से शान्त रहने के बाद, मैंने सोचा, "आत्मा पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए और समाधि प्राप्त करने के लिए, मैं ध्यान के प्रारम्भ में किसी विचार या भावना की उपस्थिति का लाभ उठाने की स्थिति में हूँ। परन्तु, जो मूलतः विक्षेप का स्रोत है, उस पर निर्भर रहने की अब मुझे कोई आवश्यकता नहीं है। इसके बदले, 'मैं शरीर आदि नहीं हूँ, प्रत्युत पारमार्थिक सत्, चित् और आनन्द-स्वरूप परब्रह्म हूँ' — ऐसी वृत्ति को सीधे उत्पन्न करके और उसे तीव्र करके, मैं अपना ध्यान प्रारम्भ कर सकता हूँ। मैंने कल यही किया था। इसके अतिरिक्त, प्रासङ्गिक वृत्ति वस्तुतः शास्त्र की शिक्षा और मेरे दृढ़ विश्वास के अनुरूप है।"

इस प्रक्रिया को मैंने उसी समय लागू करने का तय किया। अतः इन शब्दों के उपयोग के साथ, मैंने वही दोहराया जो मैंने पिछली सन्ध्या किया था —

अहमेव परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम्। (ब्रह्मानुचिन्तनम् 1)

(मैं वास्तव में सर्वोच्च ब्रह्म हूँ, जो क्षय-रहित है और (सभी में निवास करने वाला और प्रकाशमान) वासुदेव के रूप में कहा जाता है।)

इस बार, मैंने तुरन्त सविकल्प-समाधि प्राप्त की। यह अनुभव सारतः पूर्ववर्ती सविकल्प-समाधि के समान ही था। यह भी लगभग एक घंटे तक रहा। उठने के बाद, मैं नरसिंहवन लौट आया।

{यहाँ, गुरुजी ने मुझसे कहा, "मैंने जो किया है, उसका जितना हो सके, अनुकरण करने का प्रयत्न करो। यह तुम्हें मेरे विवरण पर आधारित मेरे

अनुभव को समझने की तुलना में, और अच्छे ढंग से समझने में सक्षम करेगा। कल मुझे सूचित करना। तुम्हें अपने ध्यान की गहनता को सविकल्प-समाधि के स्तर पर ही रोकने के लिए ध्यान रखना चाहिए। अन्यथा, तुम निर्विकल्प-समाधि में चले जाओगे।" उनकी कृपा से, मुझे उनकी आज्ञा का पालन करने में तनिक भी कठिनाई नहीं हुई।}

(**गुरुजी** -) अगले प्रातः, एक हरे रंगत को देखने पर, मेरे अभ्यास के अनुसार किसी दिव्य आकार की कल्पना करने के बदले, मैंने इस रंगत के साक्षी होने के रूप में, आत्मा पर अपना ध्यान निर्देशित किया। शीघ्र ही रंगत फ़ीका पड़ गया। फिर अहं-वृत्ति लगभग लुप्त हो गई और सविकल्प-समाधि फलित हो गई। उस सत्र के अन्त में, मुझे बोध हुआ कि साक्षी के रूप में आत्मा पर मनन प्रारम्भ करने और समाधि प्राप्त करने के लिए, स्वेच्छा से प्रेरित एक वृत्ति अथवा भावना के बदले, मैं उस रंगत का उपयोग आराम से कर सकता हूँ।

उस अपराह्न, मैंने पञ्चीकरण के पंक्तियों पर गहराई से विचार करने के माध्यम से, सत्य पर चिन्तन किया। सम्भवतः इसलिए उस सायंकाल, पर्वत के शिखर पर, रंगत के व्यक्त होने के बाद, मेरे मन में ये शब्द आए —

नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्य-स्वभावं परमानन्दाद्वयं प्रत्यग्भूतचैतन्यं ब्रह्मैवाहमस्मि।

(पञ्चीकरण)

(मैं ब्रह्म से भिन्न कोई नहीं हूँ, जो सदैव शुद्ध, नित्य-प्रबुद्ध, सर्वदा मुक्त, परमार्थ-सत्, परमानन्द, अद्वैत और अन्तरतम चैतन्य है।)

मैंने इन शब्दों का स्मरण किया ही था कि निर्यत्न और बिना किसी विलम्ब के, मैं सविकल्प-समाधि में था। लगभग 45 मिनट तक मैं उसी अवस्था में रहा।

मैं - क्या गुरुजी समाधि की प्राप्ति में सहजता और शीघ्रता का श्रेय सत्य के बारे में विकसित हुए उस दृढ़ विश्वास की तीव्रता को और तीन बार समाधि में पूर्व में रहने को देंगे?

गुरुजी - हाँ। मैंने उस दिन भी यही किया था। हालाँकि, मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं था कि मेरे प्रयास या क्षमता के बदले, प्राथमिक रूप से दैवानुग्रह ही मेरे दृढ़ विश्वास का और सभी समाधियों का कारण था।

समाधि से निकलने के कुछ मिनट बाद, मैंने इस प्रकार सोचा। ध्यान करने की इच्छा के रूप में, एक मानसिक वृत्ति अथवा एक प्रकाश की सहायता से, मैंने इससे पहले सर्वोच्च पर ध्यान केन्द्रित किया है। मुझे किसी बाहरी वस्तु की सहायता लेकर भी, परमात्मा में लीन होने में सक्षम होना चाहिए। आख़िरकार, परम तत्त्व तो केवल मनोवृत्तियों की साक्षी ही नहीं, अपितु सभी का वास्तविक अधिष्ठान भी है।

यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥ (महानारायण-उपनिषद् 13.5)

(सारे विश्व में जो कुछ भी देखा या सुना जा रहा है, वह सब भीतर और बाहर नारायण से व्याप्त है (जैसे कंगन और सोने के अन्य आभूषण, अपने उपादान-कारण स्वर्ण से)।)

मिट्टी के घड़े की एक गोल-सी आकृति होती है, उसका एक नाम होता है 'घट' और वह मिट्टी से बना होता है। इसे कुछ इस प्रकार — जैसे "है" — माना जाता है जो विद्यमान है; वह सत्-बुद्धि, यानी अस्तित्व की धारणा, का विषय है। घड़े के अस्तित्व का कारण क्या है? निश्चय ही, उसके नाम और रूप उसे कोई अस्तित्व नहीं देते हैं। मिट्टी के रूप के अतिरिक्त, जो उसका उपादान-कारण (भौतिक कारण) है, घड़े का कोई अस्तित्व नहीं है; उसकी सत्ता केवल मिट्टी के रूप में है।

वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।
(छान्दोग्य-उपनिषद् 6.1.4)

((मिट्टी के घट या सुराही जैसे) विकार का मूल वाक् है और वह नाम मात्र है; केवल मिट्टी के रूप में वह (विकार) वास्तविक है।)

क्या अपने आप में मिट्टी घट के अस्तित्व का कारण बन सकता है? नहीं, क्योंकि मिट्टी जिन कणों से बनी है, उनके अतिरिक्त, उसका अपना कोई

अस्तित्व नहीं है; मिट्टी के नाम और रूप से उसका अस्तित्व नहीं बनता। जो कुछ भी कार्य है, उसकी अपने उपादान-कारण से अतिरिक्त, कोई सत्ता नहीं है; केवल उपादान-कारण के रूप में ही किसी कार्य का अस्तित्व होता है। इस प्रकार, घड़ा, मिट्टी और कणों से प्रारम्भ होने वाली कारण शृङ्खला का कोई मध्यस्थ सदस्य, घड़े के अस्तित्व का कारण नहीं हो सकता। केवल परम कारण ही — यदि वह स्वरूपतः सत् है — पर्याप्त रूप से वह कारण हो सकता है। शास्त्र सिखाता है कि ब्रह्म ही परम कारण है, सभी का अधिष्ठान है और पारमार्थिक सत्ता का ही स्वरूप है।

इस प्रकार, अन्तिम विश्लेषण में, एक घट का अस्तित्व केवल ब्रह्म के रूप में होता है; ब्रह्म से अतिरिक्त वह सर्वथा असत् है। घट के नाम और रूप इसके मिथ्या और भ्रामक पहलुएँ हैं। ऐसे ही, हर एक वस्तु का अस्तित्व ब्रह्म के रूप में होता है; वस्तु के नाम और आकार उसके मिथ्या पहलुएँ हैं। यदि ऐसा न होता, तो शास्त्र बलपूर्वक नहीं सिखाते कि ब्रह्म को जानने से सब कुछ ज्ञात हो जाता है, जैसे मिट्टी को जानने से मिट्टी के सारे उत्पाद्य ज्ञात हो जाते हैं।

अतीत में, जब भी मैंने चाहा, मैं किसी वस्तु — जैसे कि मिट्टी का घड़ा या सोने का पात्र — के नाम और आकार को आसानी से अनदेखा करने में सक्षम रहा, और उसे अपने मूल द्रव्य — जैसे मिट्टी या सोने — के रूप में देखने में सक्षम रहा। अब, मुझे इससे बहुत आगे बढ़ना चाहिए। मुझे किसी भी चयनित वस्तु के नाम और रूप को, उसके अस्तित्व से पूर्णतः अलग करना चाहिए, उनकी उपेक्षा करनी चाहिए और यह समझना चाहिए कि वह वस्तु वास्तव में केवल अपना परम अधिष्ठान, परमार्थ सत्, ही है।

इस प्रकार मनन करके, प्रासङ्गिक पदार्थ के रूप में सूर्य को लेते हुए, मैंने अपना ध्यान प्रारम्भ किया। मैंने सूर्य की ओर देखा, जो लगभग आधे घंटे में अस्त होने वाला था और निहारने में सुखद था। यत्नपूर्वक, मैंने सूर्य से सम्बन्धित सब कुछ — जैसे आकार, परिमाण तथा प्रकाश — उत्तरोत्तर उपेक्षित कर दिया और बस, उसके अस्तित्व पर ध्यान केन्द्रित किया। शीघ्र

ही, सूर्य के अस्तित्व मात्र को छोड़कर, कुछ भी मायने नहीं रहा; भ्रामक पहलुओं के प्रति उदासीनता सुस्थापित और अयत्नसिद्ध हो गई। मैं नहीं कह सकता कि फिर मेरी आँखे पूर्ण रूप से खुलीं, आंशिक रूप से बन्द या पूर्णतः बन्द थीं। एकाएक, मैं स्वयं को लगभग पूर्ण रूप से भूल गया। केवल निर्विशेष सत्ता — बिना देश, काल और वस्तुओं के सम्बन्ध के — बना रहा और वह भी जड़ वस्तु के रूप में नहीं, प्रत्युत निर्विषय चैतन्य के रूप में।

जब मेरा मन इस सविकल्प-समाधि से उतरा, तब मैंने पाया कि सूर्य अस्त हो चुका था और वह प्रदेश चन्द्रमा से प्रकाशित था। मैंने अनुमान लगाया कि मेरी समाधि लगभग एक घंटे तक चली होगी। इसके बाद, मैं नरसिंहवन के लिए प्रस्थान किया।

अगले प्रातः, परम तत्त्व पर ध्यान करने के लिए, मैंने अपने सामने की भित्ति की सहायता ली। प्रायः अनायास, मैं चयनित वस्तु के सभी भ्रामक पहलुओं की उपेक्षा करने में और केवल उसके अस्तित्व पर ध्यान केन्द्रित करने में सक्षम था। कुछ क्षणों में मैंने सविकल्प-समाधि प्राप्त कर ली; अनुभव वही था जो मैंने पिछले अवसर पर प्राप्त किया था।

{इस स्तर पर, गुरुजी ने उनके सामने बैठे मुझे उनके पार्श्व में आने का तथा उनके समान दिशा का सामना करने का आदेश दिया। फिर उन्होंने कहा, "साँझ को, विषय के रूप में सूर्य को लो और तत्त्व पर एकाग्र हो जाओ, जैसा मैंने किया। इस समय, हम दोनों ध्यान के आरम्भ करने के लिए, हमारे सामने की भित्ति को विषय के रूप में लेते हुए, कुछ समय के लिए सविकल्प-समाधि में प्रवेश करें।" गुरुजी के सान्निध्य और अनुग्रह की शक्ति ऐसे थे कि बिना मेरे किसी प्रयास के भी, मैंने ठीक गुरुजी के जैसे और उनके साथ, सविकल्प-समाधि में प्रवेश किया, उसका अनुभव किया और उससे उभरा। गुरुजी ने स्वयं इस बात की पुष्टि की कि मैंने जो अनुभव किया था, वह गुरुजी के स्वयं के अनुभव के समान था। फिर गुरुजी ने कहा कि वे अगले दिन अपने विवरण बनाए रखेंगे।}

(**गुरुजी** -) मैं सन्ध्याकाल अपने ध्यान के सामान्य स्थल पर गया। अपना आसन ग्रहण करने के बाद, मैंने विचार किया, "ब्रह्म का स्वरूप पारमार्थिक सत् है और इस नाम-रूपात्मक भ्रामक विश्व का अधिष्ठान है, जिस पर वह आरोपित है। यहाँ तक कि जब मैं बाहरी वस्तुओं को देखता हूँ, तो अपने मन को सत्य पर स्थिरता से केन्द्रित करने के लिए, किसी विशिष्ट बाहरी वस्तु को मानने के बदले, मैं शब्दों का उपयोग कर सकता हूँ। इससे पहले, मेरे अन्तर्मुख रहते समय, जिस प्रकार मैंने ब्रह्मानुचिन्तन और पञ्चीकरण के शब्दों का उपयोग किया था, यह भी उसका समतुल्य होगा।"

अपने नेत्र बन्द किए बिना, मैंने मन ही मन कहा —

सर्वाधिष्ठानभूत-सन्मात्र-ब्रह्मास्मि।

(मैं केवल-सत्ता-स्वरूप, सभी का अधिष्ठान ब्रह्म हूँ।)

मैंने सारे नाम-रूपों की उपेक्षा करके, फलित वृत्ति को तीव्र किया। जैसे-जैसे मैं ऐसा करने के लिए आगे बढ़ा, विश्व के नाम-रूपों में निहित विविधता अधिकाधिक रूप से सतही और अप्रस्तुत लगने लगी। सब कुछ केवल अस्तित्व के रूप में प्रतीत होने लगा, बिना गुणों के। मेरे व्यक्तित्व की भावना फ़ीकी पड़ गई। एकाग्रता की बढ़ते तीव्रता के परिणामस्वरूप, सविकल्प-समाधि प्राप्त हुई, जो पहले प्राप्त समाधियों के समान थी। मेरे मन के समाधि से उतरने में, लगभग डेढ़ घंटा बीत गया।

मैं - क्या उस समय गुरुजी दो प्रकार की दृश्यानुविद्ध (दृश्य वस्तु से जुड़ी) तथा दो शब्दानुविद्ध (शब्द से जुड़ी) सविकल्प-समाधियों के शास्त्रों के विवरण से परिचित थे?

गुरुजी - नहीं। सरस्वती-रहस्य-उपनिषद् और दृग्दृश्य-विवेक से सम्बन्धित श्लोक मैंने बहुत बाद में पढ़े। केवल जब मैंने पढ़े, तब मुझे पता चला कि सविकल्प-समाधि में ऐसे प्रभेद होते हैं और मैं उन सभी का ठीक से अभ्यास कर चुका था।

{दृश्यशब्दानुवेधेन सविकल्पः पुनर्द्विधा ॥ (दृग्दृश्य-विवेक 23)

(दृश्य वस्तु या ध्वनि के साथ जुड़े होने के नाते, सविकल्प-समाधि दो प्रकार की होती हैं।)

कामाद्याश्चित्तगा दृश्यास्तत्साक्षित्वेन चेतनम्।
ध्यायेद्दृश्यानुविद्धोऽयं समाधिस्सविकल्पकः ॥ (दृग्दृश्य-विवेक 24)

(मनमें स्थित इच्छा और ऐसी वस्तुएँ बोधगम्य हैं। उनके साक्षी के रूप में चैतन्य पर किसी को पूर्ण रूप से ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। यह दृश्य वस्तु से जुड़ी सविकल्प-समाधि है।)

असङ्गस्सच्चिदानन्दस्स्वप्रभो द्वैतवर्जितः।
अस्मीति शब्दानुविद्धोऽयं समाधिस्सविकल्पकः ॥ (दृग्दृश्य-विवेक 25)

(मैं असङ्ग, परमार्थसत्-शुद्धचैतन्य-परमानन्द-स्वरूप, स्वयं-प्रकाश और द्वैत-रहित हूँ। इस प्रकार ध्यान करना शब्द से जुड़ी सविकल्प-समाधि बनती है।)

हृदीव बाह्य-देशेऽपि यस्मिन् कस्मिंश्च वस्तुनि।
समाधिराद्यस्सन्मात्रान्नामरूप-पृथक्कृतिः ॥ (दृग्दृश्य-विवेक 27)

(दृश्य वस्तु से जुड़ी सविकल्प-समाधि किसी बाह्य वस्तु के सम्बन्ध में उसी प्रकार हो सकती है, जैसे मन में रहे विषय के सम्बन्ध में। इसमें, नाम और रूप को शुद्ध सत्ता से अलग किया जाता है।)

अखण्डैकरसं वस्तु सच्चिदानन्दलक्षणम्।
इत्यविच्छिन्न-चिन्तेयं समाधिर्मध्यमो भवेत् ॥ (दृग्दृश्य-विवेक 28)

(अखण्ड, एकरस, परमार्थसत्-शुद्धचैतन्य-परमानन्द-स्वरूप केवल ब्रह्म ही है। ऐसा अविच्छिन्न विचार शब्द से जुड़ी सविकल्प-समाधि होती है।)}

(**गुरुजी** -) अगले प्रातःकाल, रंगत के प्रकट होने के बाद, मैंने तत्त्व के विषय में किसी अनुच्छेद का व्यक्त रूप से स्मरण नहीं किया। मैंने अपना ध्यान प्रारम्भ करने के लिए रंगत या भावना का चयन नहीं किया। पिछली सन्ध्या

से, सत्य पर ध्यान बिना प्रयास के अविच्छिन बना रहा। यहाँ तक कि स्वप्नों के समय भी, वह अबाधित रहा। मैंने इसे बस तीव्र किया। तुरन्त, मैं सर्वोच्च में लीन हो गया और सविकल्प-समाधि में था।

जब मैंने शरीर की जागरुकता पुनः प्राप्त की और अपनी आँखें खोलीं, तो मैं अपना आह्निक कक्ष देख पा रहा था। हालाँकि, केवल अस्तित्व के अतिरिक्त, कुछ भी अर्थवत् नहीं लग रहा था। मैंने नामों व रूपों को और उपेक्षित किया। तुरन्त, मैं एक बार फिर सविकल्प-समाधि में था। उस सायंकाल, मैंने सविकल्प-समाधि के चरण को पार किया और निर्विकल्प-समाधि को प्राप्त किया।

13. प्रबोध एवं ब्रह्म में संस्थापन

[*इस अगली कड़ी में गुरुजी की साधना की दिव्य लीला के परमोत्कर्ष से जुड़े वार्तालाप सम्मिलित हैं। ये वार्तालाप — 1982 जनवरी में चेन्नई (तब मद्रास) में, 1982 दिसंबर में परमहंसी गङ्गाश्रम, मध्य प्रदेश में तथा 1984 अप्रैल में शृङ्गेरी में — घटित हुए। इन वार्तालापों को सम्मिलित किया गया है।*]

गुरुजी - शास्त्रों के वचनों के आधार पर व तर्क की सहायता से, मुझे यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि मैं शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि नहीं हूँ, और मैं ब्रह्म हूँ जिसके अतिरिक्त जगत् का कोई अस्तित्व नहीं है। पूर्णिमा का उस प्रातःकाल, सविकल्प-समाधि के दो रूपों की मेरी अनुभूति ने इस विश्वास को महत्त्वपूर्ण रूप से बढ़ा दिया। अपराह्न में, मैंने आत्म-विद्या-विलास के श्लोकों को पढ़ा और उन पर विचार किया। उस दिन उन श्लोकों ने मुझ पर पहले से अधिक प्रभाव डाला। मैंने इन शब्दों को अनुस्मरण किया —

विगलितसर्वविकल्पः शुद्धो बुद्धश्चकास्ति परमात्मा ॥

(आत्म-विद्या-विलासः 4)

(*परमात्मा शुद्ध, बुद्ध एवं सारी विविधताओं से रहित प्रकाशमान है।*)

"**विगलितसर्वविकल्पः**

(*सारी विविधताओं से रहित*),"

उक्ति को ध्यान में रखते हुए, मैंने इस प्रकार चिन्तन किया। समाधि में भी, मैंने आत्मा को विविधता से सर्वथा मुक्त प्रकाशमान अनुभव नहीं किया है। आख़िरकार, 'अहं'-भाव एवं ध्याता (ध्यान करने वाला), ध्यान (क्रिया) और ध्येय (ध्यान के विषय) के भेद के अभिज्ञता भी चमकते हैं, चाहे कितने ही फ़ीके ढंग से क्यों न हो। शास्त्र के वचनों, सहायक तर्क और अपनी सविकल्प-समाधियों से, मैं यह समझता हूँ कि मैं शुद्ध चैतन्य हूँ। अगर समाधि के समय द्वैत की लेशमात्र भान भी मिट जाती — केवल शुद्ध आत्मा को अवशेष छोड़ते हुए — तो उससे अपनी वर्तमान की समझ एवं अपने निश्चय के, दृढ़ साक्षात्कार में परिपक्व होने में बहुत सुविधा होगी।

थके हुए यात्री को क्षेत्र के किसी विश्वसनीय व्यक्ति से सुनने को मिलता है कि वह जो पानी मरुस्थल में देख रहा है, वह मृगतृष्णा है। तब वह विचार

कर सकता है कि वैसा होना चाहिए। तथापि, अपनी प्यास बुझाने की उसकी चाहत, उसे इस प्रकार दृढ़ता से अनुभव करने में प्रतिबन्ध हो सकता है कि उसके सामने केवल मरुस्थलीय रेत फैली हुई है। हो सकता है कि यदि वह नई दिशा में जाए और सूर्य अस्थायी रूप से मेघों की एक मोटी परत से ढक लिया जाए, तो जहाँ वह पहले मृगतृष्णा देख रहा था, वहाँ उसे बस रेत ही दिखाई देगी। वह कुछ समय बाद, फिर से मृगतृष्णा को देखना प्रारम्भ कर सकता है। तथापि, मृगतृष्णा के अस्थायी रूप से अनदेख होने से, उसे जो कुछ कहा गया था और जिस पर उसने विचार किया था, उसकी सच्चाई को दृढ़ता से समझने में उसे बहुत सुविधा होगी। समाधि के समय, द्वैत का पूर्ण रूप से मिट जाना मेरे लिए उसी प्रकार सहायक होगा जैसे इस काल्पनिक यात्री के लिए मृगतृष्णा का अस्थायी रूप से अदृश्य हो जाना।

इसके अतिरिक्त, यद्यपि समाधि में मैं आनन्द के साथ प्रायः एक हो जाता हूँ, तथापि उसका आनन्द भोगने वाले के रूप में, अवश्य कुछ सूक्ष्म मात्रा में उससे अलग रहता हूँ। शास्त्र-प्रमाण के आधार पर, निरतिशय आनन्द मेरा स्वरूप ही है। जो मेरा अपना स्वभाव है, वह निःसन्देह मेरे द्वारा विषय के रूप में नहीं जाना जा सकता है। यह अविद्या है जो अद्वैत सत्य में विविधता के भ्रम को जोड़ती है। इस प्रकार, चाहे वह कितना ही महान क्यों न हो, मेरे द्वारा विषय के रूप में अनुभूत आनन्द, अविद्या की परिधि में रहता है। उसका स्वाद नहीं लेना चाहिए, प्रत्युत उसे पार करना चाहिए।

{छान्दोग्य-उपनिषद् में बोधित है —

यो वै भूमा तत्सुखम्। (छान्दोग्य-उपनिषद् 7.23.1)

जो अनन्त है, केवल वही सुख है।

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्॥

(छान्दोग्य-उपनिषद् 7.24.1)

अनन्त वह है जहाँ कोई और कुछ नहीं देखता, कुछ और नहीं सुनता तथा कुछ और नहीं समझता। इसलिए, परिमित वह है जहाँ कोई कुछ और देखता है, कुछ और सुनता है एवं कुछ और समझता है।

गौड़पादाचार्य जी ने माण्डूक्य-उपनिषद् पर अपनी कारिकाओं में कहा है —

नास्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्। (माण्डूक्य-कारिका 3.45)

उस अवस्था में सुख का भोग नहीं करना चाहिए, प्रत्युत विवेक के प्रयोग से अनासक्त हो जाना चाहिए।}

(**गुरुजी** -) आज सायंकाल, अपने ध्यान के समय, मुझे अपने आप को सविकल्प-समाधि के आनन्द से अभिभूत होने से रोकना चाहिए। फिर, अपने आप पर ज़ोर देकर कि मैं स्वयं आनन्द हूँ और उसका उपभोक्ता नहीं, मुझे अपने मन को और अच्छे से आत्मा पर केन्द्रित करना चाहिए। जब मेरा मन आत्मा में पूर्णतः स्थित हो जाए और आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य रूप के हर परिणामों से मुक्त हो जाए, तब आनन्द और आनन्द के भोक्ता के बीच भेद, या तो कोई अन्य विषय-विषयी भेद और वैयक्तिकता का बोध, भला कैसे प्रतीत हो सकता है? मन के आत्मा में स्थापित करने से और सर्वथा वृत्ति-शून्य रहने से, मैं इस निर्देश का पालन करता —

शनैश्शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ (भगवद्गीता 6.25)

(दृढ़ता से सम्पन्न बुद्धि के साथ, व्यक्ति को धीरे-धीरे उपरति प्राप्त करना चाहिए; मन को आत्मा में स्थापित करके, कुछ भी नहीं सोचना चाहिए।)

{भगवत्पाद जी ने उपर्युक्त श्लोक पर अपने भाष्य को यह लिखकर समाप्त किया है कि योग के बारे में यह सर्वोच्च निर्देश है।

मैत्रायणी-उपनिषद् यों सिखाता है —

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति॥
(मैत्रायणी-उपनिषत् 4.4.1)

जिस प्रकार ईंधन रहित आग अपने स्रोत में विलीन हो जाती है, उसी प्रकार वृत्तियों के क्षय होने पर मन अपने मूल (आत्मा) में विलीन हो जाता है।

लयविक्षेपरहितं मनः कृत्वा सुनिश्चलम्।
यदा यात्यमनीभावं तदा तत्परमं पदम्॥ (मैत्रायणी उपनिषत् 4.4.7)

जब मन को निद्रा एवं विक्षेपों से मुक्त और सर्वथा निश्चल करके, व्यक्ति अमनीभाव को प्राप्त कर लेता है, तब वह परम-पद में पहुँच जाता है।

तावदेव निरोद्धव्यं हृदि यावत्क्षयं गतम्। (मैत्रायणी-उपनिषत् 4.4.8)

मन को तभी तक नियन्त्रित रखना चाहिए, जब तक वह आत्मा में विलीन न हो जाए।}

(**गुरुजी** -) तत्पश्चात्, मैंने यादृच्छिक रूप से विवेक-चूडामणि को खोला। मेरी दृष्टि एक ऐसे श्लोक पर पड़ी जिसमें निर्विकल्प-समाधि की बात की गई है। मैंने उसे और उसके बाद के तीन श्लोकों को भी पढ़ा; वे भी निर्विकल्प-समाधि के बारे में थे। इस पठन ने, सविकल्प-समाधि को पार करने की अपनी उत्सुकता को बढ़ाया।

{इस स्तर पर, गुरुजी ने विवेक-चूडामणि को खोलकर निम्नलिखित श्लोकों को सुनाया।}

निरन्तराभ्यासवशात्तदित्थं पक्वं मनो ब्रह्मणि लीयते यदा।
तदा समाधिः स विकल्पवर्जितः स्वतोऽद्वयानन्द-रसानुभावकः॥

(विवेक-चूडामणि 363)

(जब निरन्तर अभ्यास द्वारा इस प्रकार (सत्य के बारे में भ्रम आदि दोषों से) शोधित मन (बिना किसी वृत्ति के, ब्रह्म के रूप में रहकर) ब्रह्म में लीन हो जाता है, तब अद्वैत आनन्द के अयत्न रसानुभव को घटित करने वाली निर्विकल्प-समाधि होती है।)

समाधिनाऽनेन समस्तवासना-ग्रन्थेर्विनाशोऽखिल-कर्मनाशः।
अन्तर्बहिः सर्वत एव सर्वदा स्वरूपविस्फूर्तिरयत्नतः स्यात्॥

(विवेक-चूडामणि 364)

(इस समाधि से, (अज्ञान में निहित) वासनाओं की गाँठ का विनाश, (पुनर्जन्म की ओर ले जाने वाले) सभी कर्मों का विनाश और भीतर और बाहर, सर्वत्र एवं सदैव, शुद्ध स्वरूप की अभिव्यक्ति, बिना प्रयास के, हो जाते हैं।)

श्रुतेः शतगुणं विद्यान्मननं मननादपि।
निदिध्यासं लक्षगुणमनन्तं निर्विकल्पकम्॥

(विवेक-चूडामणि 365)

((तत्त्व पर) मनन (तत्त्व का) श्रवण से सौ गुना श्रेष्ठ है। (तत्त्व पर) निदिध्यासन मनन से लाख गुना अधिक है। निर्विकल्प-समाधि उससे असीम गुना श्रेष्ठ है।)

निर्विकल्पकसमाधिना स्फुटं ब्रह्मतत्त्वमवगम्यते ध्रुवम्।
नान्यथा चलतया मनोगतेः प्रत्ययान्तर-विमिश्रितं भवेत्॥

(विवेक-चूडामणि 366)

(ब्रह्म, जो कि सत्य है, निर्विकल्प-समाधि के माध्यम से स्पष्ट रूप से, स्थिर निश्चितता के साथ साक्षात्कार किया जाता है, अपितु किसी अन्य माध्यम से नहीं, क्योंकि तब मानसिक व्यापार की अस्थिरता के कारण, बोध अन्य विचारों के साथ मिश्रित हो जाएगा।)

मैं सूर्यास्त होने से डेढ़ घंटे पहले, पहाड़ी पर अपने ध्यान के स्थल पर पहुँच गया। सिद्धासन में बैठकर, मैंने मन की शान्ति को बढ़ावा देने के लिए जालन्धर, उड्डीयान और मूल बन्धों के साथ, प्राणायाम के दो चक्र किए। फिर, सदैव की भाँति, मैंने अपनी टकटकी को अपनी भौंहों के बीच की ओर निर्देशित किया और प्रणव का जाप किया। उस दिन, मैंनें आकाश के सदृश नीले रंग का एक असीम विस्तार निहारा।

"मैं अद्वैत ब्रह्म हूँ, जिसके अतिरिक्त कुछ भी विद्यमान नहीं है" — यह धारणा, जो कि पिछली सन्ध्या से प्रमुख और स्वाभाविक रूप से स्थायी थी, वह प्रातः की मेरी सविकल्प-समाधियों और मेरे अपराह्न के पढ़ने तथा मनन से तीव्र हो गई थी। इसलिए, मुझे उसको उपजाना नहीं पड़ा। मैंने नीले रंग के शान्तिदायक विस्तार को देखा ही था कि वह लुप्त हो गया। मैंने अनुभव किया कि मैं विस्तृत हो रहा हूँ और आकाश की भाँति बन रहा हूँ। 'अहं'-भावना लगभग लुप्त हो गई और मेरा मन सविकल्प-समाधि में प्रवेश कर गया।

आनन्द बहुत बढ़िया था। हालाँकि, प्रयास के साथ, मैंने स्वयं को इससे अभिभूत होने से रोक दिया और सोचा, "मैं आनन्द का अनुभव करने वाला नहीं, प्रत्युत स्वयं आनन्द हूँ।" क्षणमात्र में, एक तीव्र परिवर्तन हुआ। ध्याता, ध्यान और ध्येय के भेद की प्रतीति पूर्णतः मिट गई। वैयक्तिकता का, अथवा देश, काल या वस्तु का, कोई भान न रहा। केवल सत्, शुद्ध-चैतन्य और परम-आनन्द-स्वरूप ब्रह्म, बिना द्वैत के अवशेष लेश अध्यास के, प्रकाशमान रहा।

लगभग दो घंटे के बाद, मन सविकल्प-समाधि के स्तर पर उतरा और ध्याता, ध्यान और ध्येय के भेद का थोड़ा सा भान पुनः उभर आया। यद्यपि सविकल्प-समाधि का आनन्द किसी भी सांसारिक भोग के सुख से कहीं अधिक था, तथापि निर्विकल्प-समाधि के परम और द्वैतरहित आनन्द की तुलना में कुछ भी नहीं था। धीरे-धीरे, मैं शरीर के प्रति थोड़ा सा सचेत हुआ और साथ ही श्वसन के बढ़ाव के प्रति भी, जो पहले लगभग पूर्णतः बन्द हो गया होगा।

{मैत्रायणी-उपनिषद् घोषित करता है —

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥

(मैत्रायणी-उपनिषत् 4.4.9)

समाधि द्वारा मलों से शोधित एवं आत्मा में लीन मन को जो आनन्द मिलता है, उसका वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता। उसका अनुभव तब केवल अन्तःकरण से ही होता है।

सर्वोच्च समाधि के बारे में, भगवान भगवद्गीता में कहते हैं —

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥

(भगवद्गीता 6.20,21)

योगाभ्यास से निरुद्ध चित्त जिस समय उपरत हो जाता है और जब ही शोधित चित्त द्वारा आत्मा को साक्षात् करने से, व्यक्ति आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है; जब व्यक्ति आत्यन्तिक सुख प्राप्त करता है — जिसे बुद्धि द्वारा अन्तर्ज्ञान से ग्रहण किया जा सकता है तथा जो इन्द्रियों के परे है — और इस प्रकार स्थापित होने पर, वह तत्त्व से विचलित नहीं होता है ...

भगवद्गीता के (6.20) श्लोक पर भगवत्पाद जी के भाष्य पर अपनी टीका में, आनन्दगिरि जी सम्प्रज्ञात- या सविकल्प-समाधि और असम्प्रज्ञात- या निर्विकल्प-समाधि में इस प्रकार अन्तर करते हैं —

द्विविधः समाधिः सम्प्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातश्च, ध्येयैकाकार-सत्त्ववृत्तिः भेदेन कथञ्चिज्ज्ञायमाना सम्प्रज्ञातः समाधिः, कथमपि पृथगज्ञायमाना सैव सत्त्ववृत्तिः असम्प्रज्ञातः समाधिः।

(भगवद्गीता के (6.20) श्लोक पर भगवत्पाद-भाष्य पर आनन्दगिरि-टीका)

समाधि दो प्रकार की — सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात — होती हैं। केवल ध्येय वस्तु (ध्यान का विषय) के आकार की शुद्ध चित्त-वृत्ति (चित्त का परिणाम) सम्प्रज्ञात-समाधि होती है, यदि वह किसी प्रकार से अपने विषय से अलग प्रतीत होती है। वही वृत्ति असम्प्रज्ञात-समाधि होती है जब वह किसी भी प्रकार से ध्येय से पृथक् प्रतीत नहीं होती।

सर्व-वेदान्त-सिद्धान्त-सार-सङ्ग्रह में — जो भगवत्पाद जी द्वारा रचित कहा जाता है — आत्म-ब्रह्म पर निर्विकल्प-समाधि के बारे में कहा गया है —

ज्ञात्रादिभावमुत्सृज्य ज्ञेयमात्रस्थितिर्दृढा।
मनसो निर्विकल्पः स्यात्समाधिर्योगसंज्ञितः॥
जले निक्षिप्तलवणं जलमात्रतया स्थितम्।
पृथङ्न भाति किन्त्वम्भ एकमेवावभासते॥
यथा तथैव सा वृत्तिर्ब्रह्ममात्रतया स्थिता।
पृथङ्न भाति ब्रह्मैवाद्वितीयमवभासते॥
ज्ञात्रादिकल्पनाऽभावान्मतोऽयं निर्विकल्पः।

(सर्व-वेदान्त-सिद्धान्त-सार-सङ्ग्रह 823-826)

वह निर्विकल्प-समाधि है, जिसे योग कहा जाता है, जिसमें मन जानने वाले, ज्ञान और ज्ञान की वस्तु की वृत्तियों से रहित, वस्तु (ब्रह्म) के रूप में सुदृढ़ स्थापित रहता है। पानी में डाला गया नमक, पानी के साथ एकीभूत रहता है और पृथक् व्यक्त नहीं होता। केवल पानी ही व्यक्त होता है। इसी प्रकार, (ब्रह्माकारक) चित्त-वृत्ति ब्रह्म के साथ एकीभूत रहती है और अलग से व्यक्त नहीं होती। केवल अद्वितीय ब्रह्म प्रकट होता है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय वस्तु की कल्पना के अभाव के कारण, इस समाधि को निर्विकल्प कहा जाता है।}

(**गुरुजी** -) जब मैंने अपनी आँखें खोलीं, तो अपने सामने वाले दृश्य को देख सकता था, फिर भी नहीं देखा, क्योंकि मैं नामों और रूपों में निहित विविधता के प्रति पूर्णतः उदासीन था। यह बोध इतना स्पष्ट था कि मैं परम सत्-स्वरूप हूँ कि मैंने अपने अतिरिक्त कुछ भी विद्यमान नहीं देखा। समुद्र रूपी मुझ पर, सब कुछ बुलबुलों जैसा था। कुछ समय बाद जब मैं उठा, तब मेरे शरीर को रूई की भाँति सहज लगा और जैसे ही मैं पहाड़ी से नीचे चला गया, तो ऐसा लगा कि मैं चलती डोंगी पर हूँ।

यह अनुभूति — "मैं परम ब्रह्म हूँ, जिसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है" — लगभग एक घंटे तक बने रहने के बाद, किसी की खुली हथेली में फल देखने के समान होने से, धीरे-धीरे दुर्बल होने लगी। हालाँकि, जब इसका क्षय रुक गया, तब भी वह उस समय की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली थी जब मैं ध्यान करने बैठ गया था।

उस रात, जब मेरे सोने का समय था, तो मैं ध्यान करने के लिए स्वयं को सज्जित किया। एक रंगत प्रकट होने से पहले ही, "मैं ब्रह्म हूँ," भावना तीव्र हो गई। बिना किसी प्रयास के, मैंने गहन ध्यान और सविकल्प-समाधि के चरणों को पार किया और निर्विकल्प-समाधि में प्रवेश किया। भगवत्कृपा से, निर्विकल्प-समाधि प्राप्त करना मेरे लिए बहुत आसान हो गया था। मैं उसमें तीन घंटे से अधिक समय तक रहा। फिर, मेरे ताज़ा होते हुए भी, मैं लेट गया और कुछ ही समय में सो गया। मैं जागने के अपने सामान्य समय पर उठा।

मेरे द्वारा शिव जी से योग की शिक्षा प्राप्त की गईं सात स्वप्नों में से अन्तिम में, प्रभु ने मुझे नादानुसन्धान सिखाया था। उसके बाद, मैंने सप्ताह में एक बार कुछ मिनटों के लिए उसका अभ्यास करना प्रारम्भ किया। मैंने उसके बारे में तुम्हें बताया है। उस प्रातः, सदैव की भाँति, मैंने दाहिने कान में सुनाई देने वाली ध्वनि पर अपना चिन्तन करने के लिए, अपने हाथों से अपने कान, नाक और मुँह बन्द किए। महासागर जैसी ध्वनि जो मैंने सुनी, वह एकाएक तीव्र हो गई। फिर एक तेज़ क्रम में, मैंने कई प्रकार की ध्वनियाँ सुनीं। इनमें ढोल, बाँसुरी और वीणा की ध्वनियाँ सम्मिलित थीं।

{नादबिन्दु-उपनिषद् सिखाता है —

आदौ जलधि-जीमूत-भेरी-निर्झर-सम्भवः।
मध्ये मर्दल-शब्दाभो घण्टा-काहलजस्तथा॥
अन्ते तु किङ्किणी-वंश-वीणा-भ्रमर-निःस्वनः।

(नादबिन्दु-उपनिषत् 34,35)

प्रारम्भ में, नाद महासागर, मेघ, केतली और झरने से निकलने वाले जैसे होते हैं। मध्य चरण में, वे मर्दल, घंटे और तुरही के नाद के समान होते हैं। अन्तिम चरण में, नाद घण्टियों के खनखनाते, बाँसुरी, वीणा और मधुमक्खियों के समान होते हैं।

विस्मृत्य सकलं बाह्यं नादे दुग्धाम्बुवन्मनः।
एकीभूयाथ सहसा चिदाकाशे विलीयते॥

(नादबिन्दु-उपनिषत् 39)

बाह्य सब कुछ के प्रति अवेत होकर मन, जिस ध्वनि पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है, उसके साथ एक हो जाता है, जैसे दूध के साथ पानी। फिर, वह तुरन्त चिदाकाश में विलीन हो जाता है।}

प्रत्येक ध्वनि अगली ध्वनि द्वारा प्रतिस्थापित की जाने से पहले, केवल कुछ ही क्षणों तक चली। स्वप्न में भगवान द्वारा नादानुसन्धान के प्रदर्शन के समय, मैंने उन्हीं ध्वनियाँ उसी क्रम में सुनी थीं। जब अन्तिम ध्वनि समाप्त हुई, तो बस सन्नाटा था। मेरा मन अत्यन्त प्रशान्त हो गया और आनन्द से भर गया। "अहं"-भाव तेज़ी से पूर्णतः फ़ीका पड़ गया और निर्विकल्प-समाधि प्राप्त

हुई। केवल अद्वैत, निर्विषयक चैतन्य ही रह गया। मन के समाधि से उतरने में लगभग एक घंटा बीत गया।

मैं - क्या गुरुजी ने उसकी पूरी अवधि के लिए, कान, नाक और मुँह बन्द रखा था?

गुरुजी - नहीं। नादानुसन्धान का कई बार अभ्यास करने के बाद, केवल एक मिनट से भी कम समय के लिए नाक और मुँह बन्द करने हेतु, मैंने अपने हाथों का उपयोग करना प्रारम्भ कर दिया था। जैसे ही मैंने आन्तरिक ध्वनि सुनकर उस पर ध्यान केन्द्रित किया, तो मैं अपने हाथों को नीचे करने पर भी, इसे स्पष्ट रूप से सुनना बनाए रखने में सक्षम था। इस अवसर पर, अभ्यास के बल से अपना ध्यान प्रारम्भ करने के तुरन्त बाद, मैंने अपने कान और नाक बन्द करना छोड़ दिया होगा। जब मैं समाधि से निकला, तो अपने हाथ अपने मुख के सम्पर्क में थे ही नहीं; वे मेरी गोद पर टिक रहे थे।

मैं - इससे पहले, क्या गुरुजी ने आन्तरिक ध्वनि को विषय बनाते हुए ध्यान लगाकर समाधि प्राप्त की थी, जैसे कि गुरुजी ने दिव्य रूप को ध्येय विषय लेकर ध्यान करते हुए किया था?

गुरुजी - नहीं। महीनों बाद ही, केवल मनोरञ्जन के लिए मैंने ऐसी समाधि में लागू हुआ और नादानुसन्धान के साथ भी प्रयोग किया, जिस ढंग से मैंने एक दिव्य रूप पर ध्यान केन्द्रित करने के साथ किया था।

मैं - ऐसा होने पर, उस दिन परम तत्त्व पर निर्विकल्प-समाधि प्राप्त करने के लिए, गुरुजी द्वारा नादानुसन्धान का आश्रय लेने का क्या कारण था?

गुरुजी - इस सम्बन्ध में मेरी ओर से कोई पूर्वालोचन नहीं था। प्रभु ने मुझे नादानुसन्धान का प्रदर्शन किया था और यह उनकी इच्छा थी कि उस दिन मैं ऐसे लययोग की पराकाष्ठा का अनुभव करूँ। मेरे पास कोई अन्य स्पष्टीकरण नहीं है।

{योगतत्त्व-उपनिषद् सिखाता है —

योगो हि बहुधा ब्रह्मन्भिद्यते व्यवहारतः।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगतः॥ (योगतत्त्व-उपनिषद् 19)

हे ब्रह्मन्, अभ्यास के सम्बन्ध में, योग विविध हैं — मन्त्र-योग, लय-योग, हठ-योग और राज-योग हैं।

लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः। (योगतत्त्व-उपनिषद् 23)

चित्त का लय लययोग होता है। इसके असङ्ख्य रूपों की बात की गई है।

भगवत्पाद जी अपनी योग-तारावली में कहते हैं —

सदाशिवोक्तानि सपादलक्ष-लयावधानानि वसन्ति लोके।
नादानुसन्धान-समाधिमेकं मन्यामहे मान्यतमं लयानाम्॥
(योग-तारावली 2)

विश्व में सवा लाख प्रकार के लय-अवधान हैं, जिनकी बात सदाशिव ने की है। हम नादानुसन्धान से उत्पन्न समाधि को ही लय-विधियों में श्रेष्ठ मानते हैं।}

(**गुरुजी** -) उस अपराह्न ही, मैंने एक बार फिर सर्वोच्च पर निर्विकल्प-समाधि प्राप्त की, प्रत्युत इस बार कुण्डलिनी-केन्द्रित लय-योग के माध्यम से। मैंने तुम्हें कुण्डलिनी से सम्बन्धित अपने सभी पूर्व अनुभवों के बारे में बताया है। तुमने देखा होगा कि वे बिना सोचे-समझे थे और मेरे लगभग बिना किसी प्रयास के घटित हुए थे। यह भी उन्हीं के जैसा था। मेरा मानना है कि, अम्बा ने — जिन्होंने स्वयं मेरे संन्यास के कुछ महीने बाद, मुझे कुण्डलिनी के बारे में सिखाया था – तुरन्त उन अनुभवों और, उस अपराह्न, उनके परमोत्कर्ष को प्रदान किया।

मैंने अपनी भौहों के बीच एक रंगत का मानसिक चित्रण किया ही था जब अनजाने में, मैंने जालन्धर, उड्डीयान और मूल बन्धों को अपनाया और मेरा ध्यान अनाहत-चक्र की ओर चला। मैंने वहाँ कुण्डलिनी को देखा। ऐसा लगा कि पृथ्वी-, जल- और अग्नि-तत्त्व कुण्डलिनी में समा गए हैं। जैसे ही दिव्य शक्ति तेज़ी से सहस्रार की ओर एक चक्र से दूसरे चक्र में छलांग लगाते हुए बढ़ी, तो वायु, आकाश और इन्द्रियाँ भी यथोचित उसमें विलीन हो गए।

जब कुण्डलिनी सहस्रार पहुँची, 'अहं'-भावना तथा ध्याता, ध्यान और ध्येय वस्तु के बारे में जागरूकता सहित सारा द्वैत पूर्णतः लुप्त हो गया। केवल

आनन्द के स्वरुप का बस निर्विषय चैतन्य चमक उठा। यह निर्विकल्प-समाधि लगभग एक घंटे तक रही। जैसे ही मन निर्विकल्प-समाधि से अल्प मात्र से बाहर आया, कुण्डलिनी का सहस्रार से, आज्ञा-चक्र से होते हुए, विशुद्ध-चक्र तक उतरना स्पष्ट था। मैंने शक्ति के किसी और अवतरण को अनुभव किए बिना, शरीर के बारे में थोड़ी सी जागरूकता प्राप्त की और अपनी आँखें खोलीं।

मार्ग भले ही अलग हों, मैंने जो स्थिति तब प्राप्त की थी और जो मैंने पिछली सन्ध्या को पहाड़ी पर, रात में तथा प्रातःकाल, नादानुसन्धान के माध्यम से प्राप्त की थी, उनमें कोई अन्तर नहीं था। इन सभी अवसरों पर केवल अद्वैत सत्य बना रहा, बिना किसी द्वैत की प्रतीति के। अब मेरे लिए यह पूर्ण रूप से स्पष्ट था कि चैतन्य, बिना किसी भी विषय के, अपने पूर्ण महिमा में चमकता है और आत्मा चैतन्य-स्वरूप है।

उस अपराह्न की मेरी निर्विकल्प-समाधि के तुरन्त पश्चात्, मैंने निम्नोक्त प्रकार विचार किया। यदि आत्मा एक विषय के समान वेद्य हो, तब प्रश्न यह उठता है कि आत्मा को कौन जान सकता है। इसका उत्तर यह नहीं हो सकता है कि आत्मा विषय के रूप में स्वयं द्वारा जानी जाती है, क्योंकि किसी भी वस्तु के लिए, एक बोध के ज्ञाता और ज्ञेय वस्तु दोनों होना असम्भव है। आत्मा को बुद्धि, मन, इन्द्रियों, शरीर और विषयों से नहीं जाना जा सकता, क्योंकि वे सभी जड़ हैं। इसके अतिरिक्त, आत्मा मनो-वृत्तियों की उपस्थिति और अनुपस्थिति की निर्विकार साक्षी है। चूँकि बुद्धि और मन स्वयं केवल आत्मा द्वारा दृश्य हैं, इसलिए वे आत्मा के ज्ञाता कैसे हो सकते हैं? शास्त्र घोषित करता है कि आत्मा ही ब्रह्म है और आत्म-ब्रह्म के अतिरिक्त कोई ज्ञाता नहीं है। इस प्रकार, आत्मा किसी बाहरी वस्तु जैसी ज्ञेय नहीं है।

{केन-उपनिषद् सिखाता है —

अन्यदेव तद्विदितात्। (केन-उपनिषद् 1.3)

यह निश्चित रूप से ज्ञातवस्तु से अलग है।

बृहदारण्यक-उपनिषद् में कहा गया है —

येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्? (बृहदारण्यक-उपनिषद् 2.4.14)

जिससे यह सब कुछ जाना जाता है, उसे किस माध्यम से जाना जाए?

न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः। (बृहदारण्यक-उपनिषद् 3.4.2)

(मानसिक) बोध के ज्ञाता को आप नहीं जान सकते।

नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ। (बृहदारण्यक-उपनिषद् 3.8.11)

इसके अतिरिक्त, अन्य ज्ञाता नहीं है।}

(**गुरुजी** -) यद्यपि किसी भी प्रमाण द्वारा जड़ वस्तु के समान, ज्ञेय नहीं होते हुए भी, आत्मा — जो ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई नहीं है — अज्ञात भी नहीं है। जो स्वयं से भिन्न है और जड़ है, वह अज्ञात हो सकता है। हालाँकि, आत्मा स्वयं ही है और चैतन्य-स्वरूप है। चैतन्य वह है जो वस्तुओं को प्रकट करता है और उसे कभी भी किसी दूसरे वस्तु से प्रकट करने की आवश्यकता नहीं है। यह जानने की प्रत्येक प्रक्रिया में अनिवार्य रूप से उपस्थित है और सदैव स्वतःसिद्ध है।

यहाँ तक कि आदि और अन्त वाली जानने की क्रिया का कारक भी परिवर्तनशील के अतिरिक्त अन्य नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, केवल परिवर्तनशील वस्तु सुख और दुःख का अनुभव कर सकती है। निर्विकार होने के नाते, आत्मा जानने की क्रिया सहित किसी भी क्रिया का कर्ता नहीं है, और न ही वह सुख और दुःख के अधीन है। कर्तृत्व, दुःख और सुख का भोग इत्यादि विकारशील बुद्धि के हैं। तथापि, कोई अविद्या के कारण, बुद्धि से सम्बन्धित इन्हें आत्मा पर आरोपित कर देता है। इतना ही नहीं, यद्यपि बुद्धि जड़ है, तथापि आत्मा के चैतन्य को भूल से बुद्धि पर लगाया जाता है और बुद्धि पर केन्द्रित "अहं"-वृत्ति को सचेतन कर्ता और भोक्ता के रूप में भूल में माना जाता है।

शास्त्र में ब्रह्म-साक्षात्कार की बात, अज्ञात वस्तु को जानने के अर्थ में नहीं, अपितु ब्रह्म पर अविद्या-आधारित अध्यारोपण से छुटकारा पाने के अर्थ में, की जाती है। चाहे आत्मा पर केन्द्रित हो या विचलित, मन आत्मा द्वारा

प्रकाशित एक जड़ वस्तु ही है। हालाँकि, ब्रह्माकार चित्तवृत्ति — जैसा कि शास्त्र द्वारा घोषित की गई है — ब्रह्म पर आधारित तथा उसे आच्छादित करने वाली, एवं उसे अन्यथा प्रस्तुत करने वाली अविद्या को नष्ट कर देती है।

{भगवद्गीता के श्लोक (18.50) पर अपने भाष्य में भगवत्पाद जी लिखते हैं —

अविद्याध्यारोपण-निराकरणमात्रं ब्रह्मणि कर्तव्यं, न तु ब्रह्मज्ञाने यत्नोऽत्यन्त-प्रसिद्धत्वात्। अविद्याकल्पित-नामरूप-विशेषाकारापहृत-बुद्धित्वादत्यन्त-प्रसिद्धं सुविज्ञेयमासन्नतरमात्मभूतमप्यप्रसिद्धं दुर्विज्ञेयमतिदूरमन्यदिव च प्रतिभात्यविवेकिनाम्। बाह्याकार-निवृत्तबुद्धीनां तु लब्धगुर्वात्मप्रसादानां नातःपरं सुखं सुप्रसिद्धं सुविज्ञेयं स्वासन्नमस्ति।

(भगवद्गीता के श्लोक (18.50) पर भगवत्पाद जी का भाष्य)

अविद्या द्वारा ब्रह्म पर अध्यारोपण का उन्मूलन मात्र कर्तव्य है, प्रत्युत ब्रह्म को जानने हेतु किसी यत्न की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह सर्वथा स्वतःस्पष्ट है। अविद्या के माध्यम से कल्पित नाम और रूप की विशेष प्रतीतियों से बुद्धि विचलित होने के नाते, ब्रह्म भले ही स्वतःस्पष्ट, आसानी से ज्ञेय, अन्य किसी की अपेक्षा निकटतर और स्वयं ही है, फिर भी अविवेकियों के लिए छिपा हुआ, जानने के लिए कठिन, अति दूर और अलग प्रतीत होता है। किन्तु, जिनकी बुद्धि बाहरी प्रतीतियों से मुक्त हो गई है और जिन्होंने गुरु की कृपा एवं मन की शान्ति प्राप्त कर ली है, उनके लिए इससे अधिक आनन्दमय, प्रकट, प्रसिद्ध, आसानी से जाने जाने वाला और निकटतर कुछ भी नहीं है।

बृहदारण्यक के (3.5.10) मन्त्र पर अपने भाष्य में, भगवत्पाद जी लिखते हैं —

एतावद्धि ब्राह्मणेन कर्तव्यं यदुत सर्वानात्मप्रत्यय-तिरस्करणं, एतत्कृत्वा कृतकृत्यो योगी भवति।

(बृहदारण्यक-उपनिषद् के 3.5.10 मन्त्र पर भगवत्पाद जी का भाष्य)

जिसने गुरु और शास्त्रों के वचनों से ब्रह्म को समझ लिया है, उसे केवल सभी अनात्म-प्रत्ययों को मिटाना आवश्यक है। ऐसा करने के बाद, वह एक योगी बन जाता है जिसने अपना कर्तव्य पूरा कर लिया है।}

(**गुरुजी** -) मैंने निम्नोक्त प्रकार चिन्तन किया। मान लीजिए कि एक योग में निपुण व्यक्ति को लगता है कि जब वह समाधि में है, तब वह आत्मा में स्थापित हो गया है, परन्तु समाधि से निकलने पर और गतिविधि में संलग्न होते समय, तत्त्व से कुछ मात्रा में विचलित होता है। ऐसा व्यक्ति अविद्या से मुक्त नहीं है।

समाधि और विक्षेप मन की अवस्थाएँ हैं, न कि आत्मा की। आत्मा सदैव निर्विकार और चैतन्य-स्वरूप है। समाधि और विक्षेप इसे किसी भी प्रकार से प्रभावित नहीं करते। मन के साथ तादात्म्य से मुक्त नहीं होने के कारण, यह योगी स्वयं को मन की स्थिति में विकारों से प्रभावित के रूप में देखता है। जिसने पूर्ण रूप से यह साक्षात्कार कर लिया है कि वह निर्विकार सत्य है, वह सत्य में ही स्थापित एवं अविचलित रहता है, भले ही उसका मन एकाग्र, विक्षिप्त या सुस्त स्थिति में क्यों न हो।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥ (भगवद्गीता 14.22)

(हे पाण्डु-पुत्र! (तीनों गुणों से परे) व्यक्ति (क्रमशः सत्त्व, रजस् और तमस् के कार्य) प्रकाश, गतिविधि और भ्रम के प्रकट होने पर, द्वेष नहीं करता है, और न ही उनके मिट जाने पर उनकी लालसा करता है।)

मुझे प्रभु के इन वचनों के अनुरूप होना चाहिए और इस भ्रम में रहते हुए निर्विकल्प-समाधि से संलग्न नहीं होना चाहिए कि मैं उस समय ब्रह्म से एकीभूत हो जाता हूँ।

{गौडपाद-कारिका (2.38) पर भगवत्पाद जी का भाष्य, अंशतः इस प्रकार है —

... यथा अतत्त्वदर्शी कश्चिच्चित्तमात्मत्वेन प्रतिपन्नश्चित्तचलनमनुचलितम् आत्मानं मन्यमानः तत्त्वाच्चलितं देहादिभूतमात्मानं कदाचिन्मन्यते प्रच्युतः अहमात्मतत्त्वादिदानीमिति। समाहिते तु मनसि कदाचित्तत्त्वभूतं प्रसन्नात्मानं मन्यत इदानीमस्मि तत्त्वीभूत इति। न तथाऽऽत्मविद्भवेत्।

आत्मन एकरूपत्वात्स्वरूप-प्रच्यवनासम्भवाच्च। सदैव ब्रह्मास्मीत्यप्रच्युतो भवेत् ...

(गौडपाद-कारिका 2.38 पर भगवत्पाद जी का भाष्य)

जिसने तत्त्व का साक्षात्कार नहीं किया है, वह चित्त को आत्मा के रूप में स्वीकार करता है और चित्त की अवस्थाओं के अनुसार, आत्मा को परिवर्तनशील मानता है; अथवा, कभी-कभी, शरीर आदि को आत्मा के रूप में स्वीकार करता हुआ वह सोचता है, "मैं अब उस तत्त्व से, जो आत्मा है, विमुख हूँ।" जब कभी-कभी चित्त एकाग्र हो जाता है, तो, "मैं अब तत्त्व के साथ एक हो गया हूँ" — इस विश्वास के साथ, वह स्वयं को तत्त्व से एकीभूत और प्रशान्त मानता है। आत्मज्ञानी को ऐसा नहीं होना चाहिए, क्योंकि आत्मा का स्वरूप सदैव एक जैसा रहता है और क्योंकि किसी भी वस्तु के लिए भी अपना स्वभाव बदलना असम्भव है। "मैं ब्रह्म हूँ" — इस दृढ़ निश्चय के साथ, उसे सदैव तत्त्व से अटूट रहना चाहिए।}

(**गुरुजी** -) विश्व का ग्रहणबोध, द्वैत को सत्य मानने वाले व्यक्ति के तत्त्व की दृष्टि को प्रभावित कर सकता है, मगर उसकी नहीं जिसके लिए नाम और रूप भ्रामक हैं। जो दृढ़ता से जानता है कि उसके सामने केवल सूखी रेत ही है, वह मृगतृष्णा के प्रकट होने से या लुप्त होने से प्रभावित नहीं होता। इसी प्रकार, जो जानता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, वह मृगतृष्णा के समान नामों व रूपों के जगत् के प्रकट होने से, अथवा समाधि या गहरी नींद के समय उसके लुप्त होने से, प्रभावित नहीं हो सकता।

{ब्रह्मज्ञानी के लिए, विश्व के भ्रम होने के बारे में पञ्चदशी कहती है —

जीवभाव-जगद्भाव-बाधे स्वात्मैव शिष्यते॥
नाप्रतितिस्तयोर्बाधः किन्तु मिथ्यात्व-निश्चयः।
नो चेत्सुषुप्ति-मूर्च्छादौ मुच्येतायत्नतो जनः॥
परमात्मावशेषोऽपि तत्सत्यत्व-विनिश्चयः।
न जगद्विस्मृतिर्नो चेज्जीवन्मुक्तिर्न सम्भवेत्॥

(पञ्चदशी 6.12-14)

जब जीवात्मा का अस्तित्व और जगत् का अस्तित्व बाधित हो जाते हैं, तब केवल आत्मा ही शेष रहती है। उनका निषेध उनकी अनभिज्ञता नहीं, अपितु केवल यह दृढ़ निश्चय कि वे मिथ्या हैं। यदि ऐसा नहीं होता, तो लोग गहरी नींद और मूर्च्छा जैसी अवस्थाओं में, बिना किसी प्रयास के, मुक्त हो जाते। परमात्मा के अवशेष स्वभाव का साक्षात्कार भी केवल उसकी सत्यता के बारे में दृढ़ निश्चय है। वह जगत् की विस्मृति नहीं है। यदि ऐसा न होता, तो जीवन्मुक्ति (जीवित रहते हुए भी संसार बन्धन से मुक्ति) सम्भव नहीं होती।}

(**गुरुजी** -) मैंने अपने इस विश्वास के समर्थन में कि संसार भ्रमात्मक है और अद्वैत सत्य के अतिरिक्त कुछ भी विद्यमान नहीं है, जाग्रत् और स्वप्न की अवस्थाओं के बीच समानता पर विचार किया। मैंने यह भी सोचा कि कैसे जाग्रत्, स्वप्न, और सुषुप्ति की अवस्थाएँ एक दूसरे को बाधित करती हैं, और उन सभी में चैतन्य, यानी उनके साक्षी, की अटूटता के बारे में सोचा।

साँझ को, पिछली सन्ध्या की भाँति लगभग उसी समय, मैं पहाड़ी पर अपने ध्यान करने के स्थान पर गया। वहाँ, मैंने ठीक पिछली रात की भाँति, निर्विकल्प-समाधि में प्रवेश किया। लगभग एक घंटे के बाद, मैंने अपनी आँखें खोलीं। नामों और रूपों का मिथ्यात्व अति स्पष्ट था और यह निश्चितता भी स्पष्ट थी कि चैतन्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। शीघ्र ही, अपनी आँखें बन्द किए बिना अथवा कोई प्रयास किए बिना, मैं एक बार फिर निर्विकल्प-समाधि में डूब गया। इस बार भी, समाधि लगभग एक घंटे तक चली।

{सरस्वती-रहस्य-उपनिषद् दो प्रकार की निर्विकल्प-समाधियों की बात करता है, एक बाहरी से सम्बन्धित और दूसरी आन्तरिक से। सम्बन्धित श्लोक दृग्-दृश्य-विवेक में समान रूप में देखने को मिलते हैं।

स्वानुभूति-रसावेशाद्दृश्य-शब्दावुपेक्ष्य तु।
निर्विकल्पस्समाधिस्स्यान्निवातस्थित-दीपवत्॥

(सरस्वती-रहस्य-उपनिषद् 26)

निर्विकल्प-समाधि वह है जिसमें मन वात-रहित स्थल पर स्थित दीपक के समान, स्थिर हो जाता है और जिसमें व्यक्ति आनन्द में पूर्ण रूप से लीन होने के नाते, (आन्तरिक) विषयों और ध्वनियों के प्रति उदासीन हो जाता है।)

स्तब्धीभावो रसास्वादात्तृतीयः पूर्ववन्मतः।

(सरस्वतीरहस्य-उपनिषत् 29)

आनन्द के कारण, सविकल्प-समाधि के समान (बाहरी वस्तुओं के प्रति) मन की उदासीनता निर्विकल्प-समाधि के रूप में नामित है।}

(**गुरुजी** -) एक घंटे के अतिरिक्त, जिसमें मैं सोया था, मैंने बाकी रात निर्विकल्प-समाधि में बिताई। ऐसा नहीं था कि मैं विशेष रूप से ऐसा करना चाहता था, क्योंकि तब तक, जहाँ तक ब्रह्म में मेरी संस्थिति का विषय था, समाधि और जगत् की अभिज्ञता के बीच, मेरे लिए तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं था। चूँकि मुझे बहुत ताज़ा लग रहा था, इसलिए मैं लेटने के बदले, यूँ ही आलती-पालती लगाकर बैठ गया। अचानक, मेरा मन निर्विकल्प-समाधि में डूब गया।

अगले दिन, मैं प्रातः और अपराह्न में, एक-एक घंटे के लिए निर्विकल्प-समाधि में चला गया। द्वैत के मिथ्यात्व और मेरे निर्विकार चैतन्य-स्वरूप के होने का निश्चय इतना दृढ़ और अटल था कि अविद्या-आधारित लगभग किसी भी अनात्म-वृत्ति नहीं उभरी। जो कुछ उठीं, उन्हें तुरन्त निष्प्रभावित कर दिया गया। यह ज्ञान कि केवल ब्रह्म ही सब कुछ है, लगभग पूर्णतः सिद्ध हो चुका था। यह मेरी स्थिति थी जब मैं सायंकाल को सूर्यास्त से डेढ़ घंटे पहले पहाड़ी के शिखर पर गया था।

मैंने अपनी टकटकी को भौंहों के बीच में निर्देशित किया और बिना किसी पूर्वचिन्तन के, केवल प्रणव के बदले, "**ॐ नमः शिवाय**," मन्त्र का जाप किया। शीघ्र ही मैंने अपनी भौंहो के बीच प्रकाश की एक चन्द्रमा की भाँति चक्रिका देखी। मन उत्तरोत्तर शान्त हो गया, "अहं"-भावना फ़ीकी पड़ गई और निर्विकल्प-समाधि अनायास फलित हो गई। जब मैंने अपनी आँखें खोलीं, तो सूरज डूबने ही वाला था। मेरे कन्धों पर दो पक्षी बैठे थे।

यह एक हथेली के फल के समान स्पष्ट था कि सब कुछ ब्रह्म है। कुछ मिनिट बाद, एक बार फिर मेरा मन स्वतः ही निर्विकल्प-समाधि में चला गया और लगभग एक घंटे तक उसी अवस्था में रहा। अपने शरीर और परिवेश के बारे में जागरूक होने के कुछ ही समय बाद, एक बड़ा बन्दर मेरे पास आया और मेरी गोद पर अपना स्थान ले लिया। कुछ समय मेरे द्वारा लिपटाए जाने के बाद, वह चला गया। मैं पहाड़ी से नीचे चला गया और अपने परिचारक को वहाँ एक दीपक के साथ प्रतीक्षा करते हुए पाया।

गुरुजी और प्रभु की कृपा से, विवेक-चूडामणि (श्लोक 2) की —

"स्वनुभवो ब्रह्मात्मना संस्थितिः (विवेक-चूडामणि 2)

(ब्रह्म की साक्षात् अनुभूति एवं ब्रह्म में दृढ स्थिति),"

इस बात में जो कहा गया है, वह उस सन्ध्या एक ही वार में घटित हो गया। आज तक उस सच्चाई से कोई विचलन नहीं हुआ है।

{अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में भगवत्पाद जी ने कहा है —

... सर्वदुःख-विनिर्मुक्तैकचैतन्यात्मकोऽहमित्येष आत्मानुभवः। न चैवम् आत्मानमनुभवतः किञ्चिदन्यत्कृत्यमवशिष्यते।

(ब्रह्मसूत्र 4.1.2 पर भगवत्पाद जी का भाष्य)

"मैं चैतन्य-स्वरूप हूँ, एक तथा सभी दुःखों से मुक्त" – ऐसा है आत्मा का साक्षात्कार। आत्मा को इस प्रकार साक्षात्कार करने वाले को कुछ करना शेष नहीं रहता।

जीवन्मुक्ति (जीवन जीते हुए मुक्त व्यक्ति) का लक्षण — **स्वानुभवः** (*ब्रह्म की साक्षात् अनुभूति*) और **ब्रह्मात्मना संस्थितिः** (*ब्रह्म में दृढ़ स्थिति*) — इन दोनों के एक ही वार में एक संन्यासी के लिए घटित होने के बारे में, जीवन्मुक्ति-विवेक के वासनाक्षय-प्रकरण में कहा गया है —

तत्रोपास्य-साक्षात्कार-पर्यन्तामुपास्तिं कृत्वा यदि ज्ञाने प्रवर्तेत, तदा वासना-क्षय-मनोनाशयोर्दृढतरत्वेन ज्ञानादूर्ध्वं विद्वत्संन्यास-जीवन्मुक्ती स्वत एव सिध्यतः। तादृश एव शास्त्राभिमतो मुख्यो विद्याधिकारी।

(जीवन्मुक्ति-विवेक, वासनाक्षय-प्रकरण)

उस व्यक्ति के विषय में — जिसने ध्यान के विहित विषय-वस्तु [जैसे भगवान का कोई रूप] की उपासना साक्षात्कार की सीमा तक किया है और फिर सत्य के ज्ञान के लिए प्रयास करता है, उसके मन की वासनाओं के दृढ़ क्षय और मन के विलयन के कारण, ज्ञानोदय के बाद — तत्त्वज्ञानी का संन्यास और जीवन्मुक्ति स्वतः ही घटित हो जाते हैं। वह व्यक्ति अवश्य तत्त्वज्ञान के लिए शास्त्र-अभिमत मुख्य-अधिकारी है।

जीवन्मुक्ति के एक तथ्य होने के बारे में, भगवत्पाद जी ने ब्रह्मसूत्र (4.1.15) के अपने भाष्य पर लिखा है —

अपि च नैवात्र विवदितव्यं ब्रह्मविदा कञ्चित्कालं शरीरं ध्रियते न वा ध्रियत इति। कथं ह्येकस्य स्वहृदय-प्रत्ययं ब्रह्मवेदनं देहधारणं चापरेण प्रतिक्षेप्तुं शक्येत? श्रुतिस्मृतिषु च स्थितप्रज्ञ-लक्षण-निर्देशेनैतदेव निरुच्यते।

(ब्रह्मसूत्र (4.1.15) पर भगवत्पाद जी का भाष्य)

इसके अतिरिक्त, यहाँ कोई मतभेद सम्भव नहीं है कि ब्रह्मज्ञानियों द्वारा (साक्षात्कार के बाद) कुछ अवधि के लिए शरीर का धारण किया जाता है या नहीं। क्योंकि, जब किसी के मन में यह विश्वास है कि उसने ब्रह्म को जान लिया है और फिर भी, शरीर का धारण करता है, तो यह किसी और के द्वारा कैसे नकार किया जा सकता है? स्थितप्रज्ञ (सत्य के स्थिर ज्ञान वाले) के लक्षणों को निर्धारित करने के क्रम में, यही तथ्य उपनिषदों और स्मृतियों में विस्तृत प्रकार से कहा गया है।

भगवत्पाद जी अपनी उपदेश-साहस्री में कहते हैं —

आरब्धस्य फले ह्येते भोगो ज्ञानं च कर्मणः।
अविरोधस्तयोर्युक्तो वैधर्म्यं चेतरस्य तु॥

(उपदेश-साहस्री, पद्यभाग 4.4)

यह उचित है कि सुख-दुःख का अनुभव — जो पिछले जन्म के कर्मों के परिणाम हैं, जो फलित होने लगे हैं और जिन्होंने वर्तमान शरीर को उत्पन्न किया है — और ब्रह्म का ज्ञान परस्पर विरोधी नहीं है। अन्य प्रकार के कर्म

(अतीत के कर्म, जिनका फल देना अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है और आत्मज्ञान के बाद किए गए कर्म) अलग हैं (और वे ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं)।

देहात्म-ज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञान-बाधकम्।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते॥ (उपदेश-साहस्री पद्यभाग 4.5)

जिसे शरीर के आत्मा होने की त्रुटिपूर्ण धारणा को नकारने वाला आत्मा का ज्ञान इतना दृढ़ है जितना सामान्य लोगों में शरीर के आत्मा होने की त्रुटिपूर्ण धारणा दृढ़ है, वह न चाहते हुए भी मुक्त हो जाता है।

भगवद्गीता में भगवान ने कहा है —

कामक्रोध-वियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ (भगवद्गीता 5.26)

जिन यतीओं का मन पर नियन्त्रण है, जो कामना और क्रोध से मुक्त हैं और जिन्होंने आत्मा को जान लिया है, उनके लिए ब्रह्म में तल्लीनता (मुक्ति) है, चाहे वे जीवित हों या मृत।

बृहदारण्यक-उपनिषद् में, जीवन्मुक्त की स्तुति इस प्रकार की गई है —

स ब्राह्मणः केन स्याद्येन स्यात्तेनेदृश एव। (बृहदारण्यक-उपनिषद् 3.5.1)

वह ब्रह्मज्ञानी कैसा व्यवहार करता है? वह जैसा भी व्यवहार करे, वह वैसा ही है।

आगे,

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्।
(बृहदारण्यक-उपनिषद् 4.4.23)

यह ब्रह्मज्ञानी की नित्य महिमा है; वह (अच्छे या बुरे) कर्म से न बढ़ती है और न ही घटती है।}

गुरुजी की साधना के अन्तिम चरण की मुख्य घटनाओं की तिथियाँ

भगवान शिव जी का प्रत्यक्ष दर्शन तथा उनका अनुग्रह	5.12.1935	गुरुवार	युव-संवत्सर मार्गशीर्ष शुक्ल दशमी
शास्त्राधारित मनन के पश्चात् निर्गुण-ध्यान का प्रारम्भ	6.12.1935	शुक्रवार	युव-संवत्सर मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी
ब्रह्माकार सविकल्प-समाधि की प्राप्ति	7.12.1935	शनिवार	युव-संवत्सर मार्गशीर्ष शुक्ल द्वादशी
ब्रह्माकार निर्विकल्प-समाधि की प्राप्ति	10.12.1935	मङ्गलवार	युव-संवत्सर मार्गशीर्ष शुक्ल पूर्णिमा
ब्रह्म साक्षात्कार तथा ब्रह्म में संस्थिति	12.12.1935	गुरुवार	युव-संवत्सर मार्गशीर्ष कृष्ण द्वितीया

14. उत्तरगामी दिव्य लीला

[*निम्नलिखित संवाद 1989 अगस्त में हुआ। यह इससे पहले अभिलिखित वृत्तान्त का अनुक्रम है, जिसमें गुरुजी ने अपने शिव जी के प्रत्यक्ष दर्शन के बारे में बताया था; भगवान शिव जी ने गुरुजी को निराकार परम तत्त्व पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए कहा तथा आशीर्वाद दिया कि गुरुजी शीघ्र ही ब्रह्म में संस्थित हों जाएँगे।*]

मैं - क्या गुरुजी ने अपनी साधना की परिसमाप्ति के बारे में परमगुरुजी को सूचित किया, जैसा कि भगवान ने भविष्यवाणी की थी?

गुरुजी - नहीं। मेरे गुरु एवं एक उत्कृष्ट श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ (शास्त्रों में पारङ्गत तथा परब्रह्म में संस्थित महात्मा) होने के नाते, उनके पास न केवल मेरी साधना के आरम्भ और रूप पर, प्रत्युत इसकी प्रगति एवं समाप्ति पर भी, निर्णय लेने का अधिकार था और क्षमता भी थी।

एष ब्रह्मलोकः सम्राडेनं प्रापितोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः।

(बृहदारण्यक-उपनिषद् 4.4.23)

(*याज्ञवल्क्य ने कहा — हे सम्राट्! यह ब्रह्म का लोक है। तुमने इसे प्राप्त कर लिया है।*)

वे गुरु याज्ञवल्क्य ही थे जिन्होंने पुष्टि की कि उनका शिष्य जनक ने ब्रह्म का साक्षात्कार पा लिया था व वह जीवनमुक्त हो गया था। एक शिष्य के लिए यह भ्रम होना सम्भव है कि उसने सत्य को जान लिया है, जबकि उसे ऐसा करना शेष है। क्या नारद ने भूल से प्राण को जानकर यह नहीं मान लिया था कि उन्होंने सत्य को जान लिया है, और आत्मा के बारे में और निर्देश के लिए, सनत्कुमार से अनुरोध करना बन्द कर दिया था? जिस प्रकार कोई सुयोग्य गुरु करते हैं, सनत्कुमार ने नारद को सुधारा और उन्हें सत्य की ओर ले चला।

यदि मन्यसे सुवेदेति ... (केन-उपनिषद् 2.1)

(*यदि मानते हो कि तुमने ब्रह्म को भली-भाँति जान लिया है ...*)

शिष्य की समझ को गुरु इस प्रकार चुनौती भी दे सकते हैं ताकि सत्य की दृढ़, निर्दोष प्राप्ति सुनिश्चित हो सके।

{गुरुजी द्वारा उद्धृत छान्दोग्य-उपनिषद् के अन्तर्गत, गुरु सनत्कुमार एवं शिष्य नारद के बीच संवाद के खण्ड पर, भगवत्पाद जी का भाष्य इस प्रकार है —

स एष नारदः सर्वातिशयं प्राणं स्वमात्मानं सर्वात्मानं श्रुत्वा नातः परमस्ति इत्युपरराम। न पूर्ववत्किमस्ति भगवः प्राणाद्भूय इति पप्रच्छ। यतस्तमेवं विकारानृतब्रह्मविज्ञानेन परितुष्टमकृतार्थं परमार्थसत्यातिवादिनमात्मानं मन्यमानं योग्यं शिष्यं मिथ्याग्रह-विशेषात् विप्रच्यावयन् आह भगवान् सनत्कुमारः।

(छान्दोग्य-उपनिषद् 7.16.1 का शाङ्करभाष्य)

प्राण — जो सबसे परे है, जिसे स्वयं के रूप में देखा जाना चाहिए और जो सभी की आत्मा है — उसके बारे में सुनकर नारद रुक गए क्योंकि उन्होंने सोचा, "इससे श्रेष्ठतर कुछ भी नहीं है।" उन्होंने यह नहीं पूछा, जैसा उन्होंने पहले किया था, "हे पूज्य गुरुवर! क्या प्राण से बड़ा कुछ है?" इस प्रकार, परिवर्तनशील तथा असत्य ब्रह्म (प्राण) से सन्तुष्ट, स्वयं को सर्वोच्च तत्त्व के ज्ञाता मानते हुए, और इसलिए बोली में उत्कृष्ट, परन्तु वास्तव में उच्चतम लक्ष्य को पूरा नहीं किए नारद को देखकर, भगवान सनत्कुमार ने अपने योग्य शिष्य को उनकी विशिष्ट मिथ्या धारणा से दूर करते हुए, उनसे कहा।

गुरुजी द्वारा उद्धृत केन-उपनिषद् के अंश का परिचय देते हुए, भगवत्पाद जी ने अपने वाक्य-भाष्य में लिखा है —

विदिताविदिताभ्यां निवर्त्य बुद्धिं शिष्यस्य स्वात्मन्यवस्थाप्य तदेव ब्रह्म त्वं विद्धीति स्वाराज्येऽभिषिच्योपास्य-प्रतिषेधेनाथास्य बुद्धिं विचालयति यदि मन्यसे सुवेदाहं ब्रह्मेति। सा पुनर्विचालना किमर्थेत्युच्यते पूर्वगृहीते वस्तुनि बुद्धेः स्थिरतायै।

(केन-उपनिषद् 2.1 पर शाङ्कर-वाक्यभाष्य)

(घट जैसे) ज्ञात एवं अज्ञात विषयों से शिष्य की बुद्धि को हटाकर, उसे स्वयं की आत्मा पर स्थिर करके, ब्रह्म को उपास्य वस्तु नकार कर — "उसे ही तुम ब्रह्म जानो ..." — इन शब्दों से अपनी आत्मा के साम्राज्य में उनका अभिषेक करने के बाद, शिष्य की समझ को हिलाते हुए गुरु कहते हैं, "यदि

तुम्हें लगता है कि तुम ब्रह्म को भली-भाँति जानते हो... ।" तो, ऐसे विचलन का उद्देश्य क्या है? उत्तर है, "पहले समझे गए सत्य की दृढ़ प्राप्ति सुनिश्चित करने के लिए।"}

मैं - गुरुजी की ब्रह्म-संस्थापन पर परमगुरुजी ने कब व कैसे प्रतिक्रिया दी?

गुरुजी - जैसे ही मैं पहाड़ी से लौट रहा था, मैंने गुरुजी को सच्चिदानन्द-विलास के बाहर खड़े और मेरी ओर देखते पाया। उन्होंने मुझे सङ्केत से बुलाया और भीतर चले गए। जब मैं उनकी उपस्थिति में गया, तो वे अकेले थे। इससे पहले कि मैं उनके सामने प्रणाम कर पाता, वे तेज़ी से मेरे पास आए और मुझे गले लगा लिए। फिर, मुझे अपने कन्धों से पकड़कर, उन्होंने कहा, "मैं बहुत प्रसन्न हूँ।"

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ (मुण्डक-उपनिषद् 2.2.8)

(जब परमात्मा — जो उच्च (कारण) और निम्न (कार्य) दोनों है — उसको साक्षात्कार किया जाता है, तो (इच्छाओं के रूप में अज्ञान की प्रवृत्तियों तथा संस्कारों के समूह से बनी) हृदय की गाँठ नष्ट हो जाती है, सभी सन्देह समाप्त हो जाते हैं तथा व्यक्ति के कर्म नष्ट हो जाते हैं।)

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते। (बृहदारण्यक-उपनिषद् 4.4.7)

(तत्पशचात्, जो मृत्यु के अधीन था, वह अमर हो जाता है एवं इसी शरीर में रहते हुए, वह ब्रह्म के साथ एकता प्राप्त कर लेता है।)

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ (भगवद्गीता 3.17)

(परन्तु, वह मनुष्य जो केवल आत्मा में ही आनन्दित होता है, केवल आत्मा में ही तृप्त होता है एवं केवल आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है, उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं रहता।)

गुरुजी ने इन पंक्तियों को उद्धृत किया और मुझसे कहा, "श्रुति और स्मृति की इस प्रकार की उद्घोषणाएँ आप पर लागू होती हैं, जो परब्रह्म के रूप में

रहते हैं।" उन्होंने गौडपादाचार्य जी के शब्दों को थोड़ा बदलते हुए, मुझसे यह कहा —

तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्टं तत्त्वं दृष्टं तु बाह्यतः।
तत्त्वीभूतस्तदारामस्तत्त्वादप्रच्युतो भवान्॥

((आपके द्वारा) व्यक्ति के सन्दर्भ में और बाहरी विश्व में तत्त्व देखा गया है। आप तत्त्व के साथ एक हो चुके हैं। आप तत्त्व में आनन्दित हैं। आप तत्त्व से अविचलित हैं।)

{गौडपादाचार्य जी का मूल श्लोक, जो उपदेश के रूप में है, इस प्रकार है —

तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्त्वं दृष्ट्वा तु बाह्यतः।
तत्त्वीभूतस्तदारामस्तत्त्वादप्रच्युतो भवेत्॥ (गौडपाद-कारिका 2.38)

व्यक्ति के सन्दर्भ में और बाहरी विश्व में तत्त्व की जाँच करने के बाद, व्यक्ति को तत्त्व के साथ एक हो जाना चाहिए, तत्त्व में आनन्दित होना चाहिए तथा तत्त्व से विचलित नहीं होना चाहिए।}

(**गुरुजी** -) गुरुजी के मेरे कन्धों को छोड़ने पर, मैंने उनके चरणों में अपने हाथ एवं माथा रखकर, बहुत समय तक दण्डवत् किया। गुरुजी की महानता ऐसी थी कि उन्होंने दूसरे में कुछ भी सकारात्मक अंश की बहुत सराहना की। उनके निर्देश, आशीर्वाद और कृपा मेरी साधना के, और जो कुछ भी मैंने प्राप्त किया उसके, कारण थे। फिर भी, गुरुजी ने कोई श्रेय नहीं लिया। वे अहं-भाव से पूर्ण रूप से मुक्त थे। अब कोई उनके जैसे लोगों को कहाँ पा सकता है?

[*निम्नलिखित संवाद 1989 अगस्त में पिछले वार्तालाप के एक दिन बाद शृङ्गेरी में हुआ।*]

मैं - गुरुजी की ब्रह्म में दृढ़ संस्थिति एवं उस सन्ध्या परमगुरुजी द्वारा उसी की पुष्टि के बाद, अगले कुछ दिनों में, गुरुजी के चाल-चलन में क्या कुछ बड़े परिवर्तन हुए?

गुरुजी - हाँ, किन्तु वे तत्त्व के ज्ञान के परिणाम नहीं थे। उस सन्ध्याकाल के बाद, ब्रह्म-साक्षात्कार के साधन के रूप में समाधि की कोई भूमिका नहीं रही। तथापि, पूर्णिमा के दिन के बाद, मैं बार-बार निर्विकल्प-समाधि में रह रहा था। फलस्वरूप, निरोध-संस्कार (मन के अवरोधन से उत्पन्न संस्कार) तीव्र हो गए थे। इसके कारण तथा नामों और रूपों के प्रति पूर्ण उदासीनता के कारण, मेरा मन सहजता से स्वयं निर्विकल्प-समाधि में चला गया। समाधि में इस प्रकार रहा करना मेरे मन को और भी निर्विकल्प-समाधि में रहने के लिए उन्मुख और बाकी सब वस्तुओं के प्रति विमुख बना लिया।

{पञ्चदशी में कहा गया है —

निश्चित्य सकृदात्मानं यदापेक्षा तदैव तम्।
वक्तुं मन्तुं तथा ध्यातुं शक्नोत्येव हि तत्त्ववित्॥
उपासक इव ध्यायल्लौकिकं विस्मरेद्यदि।
विस्मरत्येव सा ध्यानाद्विस्मृतिर्न तु वेदनात्॥
ध्यानं त्वैच्छिकमेतस्य वेदनान्मुक्तिसिद्धितः॥

(पञ्चदशी 9.95-97)

आत्मा का दृढ ज्ञान प्राप्त करने के बाद, तत्त्वज्ञानी जब चाहे तब इसके बारे में बात करने, इसके बारे में सोचने तथा इस पर ध्यान करने में निश्चित रूप से सक्षम होता है। यदि यह कहा जाए कि ध्यान के अभ्यासी की भाँति ध्यान करते हुए वह सांसारिक व्यवहारों को भूल जाएगा, तो इसका उत्तर यह है कि वह वास्तव में ऐसा करता है, किन्तु विस्मरण ध्यान का परिणाम है, न कि ज्ञान का। हालाँकि, उस व्यक्ति के लिए ध्यान वैकल्पिक है, क्योंकि पहले ही ज्ञान द्वारा मोक्ष सुनिश्चित कर लिया गया है।

गुरुजी द्वारा बताए गए निरोध-संस्कारों के बारे में, व्यास जी ने योगसूत्र (1.51) पर अपने भाष्य में लिखा है —

निरोधस्थिति-कालक्रमानुभवेन निरोधचित्तकृत-संस्कारास्तित्वमनुमेयम्।

(योगसूत्र (1.51) पर व्यास-भाष्य)

(चित्त-अवरोधन से उत्पन्न निरोध-संस्कार के अस्तित्व का अनुमान, उस अवस्था में बने रहने की अवधि में वृद्धि के अनुभव से लगाया जाना है।)

अपनी तत्त्व-वैशारदी टीका में वाचस्पति मिश्र स्पष्ट करते हैं —

एतदुक्तं भवति — वैराग्याभ्यास-प्रकर्षानुरोधी निरोधप्रकर्षो मुहूर्तार्ध-यामादि-व्यापितयाऽनुभूयते योगिना।

(वाचस्पति मिश्र की तत्त्व-वैशारदी टीका)

ऐसा कहा जाता है — मन के अवरोधन की तीव्रता वैराग्य और अभ्यास की तीव्रता के अनुसार होती है और योगियों द्वारा समय की बढ़ती अवधि के लिए अवरोधन के विस्तार द्वारा अनुभव की जाती है, जैसे मुहूर्त (48 मिनट) के लिए, अर्ध-याम (96 मिनट) के लिए इत्यादि।}

गुरुजी - उस रात, जैसे ही मैं लेट गया, मैं निर्विकल्प-समाधि में चला गया। जब तक मैं इससे निकला, तब तक रात्रि बीत चुकी थी। जब मैंने अपने आसनों को पूरा किया और प्राणायाम प्रारम्भ करने के लिए स्वयं को सज्जित किया, तो मेरा मन पुनः निर्विकल्प-समाधि में डूब गया। लगभग आधे घंटे तक वह उस स्थिति में रहा। निर्विकल्प-समाधि का एक और सत्र, जो मेरी आह्निक के समय अनायास हुआ, वह मेरे प्रथागत शुक्रवार के मन्दिर में जाने से पहले हुआ।

मैं - क्या गुरुजी ने शारदाम्बा के प्रति वही उदासीनता अनुभव की, जो सामान्य रूप से नामों और रूपों के प्रति थी?

गुरुजी - नहीं, जैसे ही मैं उनके समक्ष चुपचाप खड़ा हुआ, मेरी आँखों से आनन्द के आँसू बह निकले।

{भागवत-पुराण में कहा गया है —

शौनक उवाच —
स वै निवृत्तिनिरतः सर्वत्रोपेक्षको मुनिः।
कस्य वा बृहतीमेतामात्मारामः समभ्यसत्॥

(भागवत-पुराण 1.7.9)

शौनक ने पूछा — "निश्चित रूप से वे (शुक) मुनि प्रत्याहार पर निरत थे, हर वस्तु के प्रति उदासीन थे और केवल आत्मा में ही आनन्दित थे। तो उन्होंने इस बड़े ग्रन्थ में कैसे महारत प्राप्त की?"

सूत उवाच —

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥
हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान्बादरायणिः।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः॥ (भागवत-पुराण 1.7.10,11)

सूत जी बोले — "यहाँ तक की जो मुनिजन केवल आत्मा में आनन्द लेते हैं और बन्धमुक्त हैं (अथवा जिन्होंने ग्रन्थों का अध्ययन भी छोड़ दिया हैं), वे भी बिना किसी भी अपेक्षा के, भगवान में भक्ति रखते हैं। ऐसी है भगवान की श्रेष्ठता। व्यास जी के पुत्र, धन्य मुनिवर का हृदय भगवान की महिमा से मोहित था और वे भगवान के भक्तों से सदा प्रेम करते थे। इसलिए, उन्होंने इस महान ग्रन्थ का अध्ययन किया।"}

मैं - गुरुजी की गहरी अन्तर्मुखता ने उस दिन श्री रामचन्द्र शास्त्री जी की तर्क कक्षा में गुरुजी के भाग लेने पर, किस प्रकार प्रभाव डाला?

गुरुजी - यद्यपि उस दिन अनध्याय (वह अवधि जब पारम्परिक कक्षाएँ आयोजित नहीं होतीं) नहीं था, तथापि उस दिन मेरी कोई कक्षा नहीं थी। पिछले दिन और अगले तीन दिनों में भी ऐसा ही था। उस अपराह्न, मुझे जो पढ़ाया गया था, उसे मैंने पुनः अवलोकन करने का प्रयास किया, किन्तु असफल रहा, क्योंकि मेरा मन शीघ्र ही निर्विकल्प-समाधि में चला गया।

साँझ तक, मैं केवल वही करने की स्थिति में था जो मुझे करने का अभ्यास था व जिसमें मन का नया अनुप्रयोग सम्मिलित नहीं था। साथ ही, समाधि से निकलना कठिन हो गया था। रात की निर्विकल्प-समाधि तब तक फैली हुई थी जब मैं सामान्य रूप से अपने आसन और प्राणायाम करता था। यदि वह कुछ समय और बनी रहती, तो मेरे प्रातःस्नान में विलम्ब हो जाता। जबकि मैंने अपने प्रातःकालीन आह्निक में से कुछ भी नहीं छोड़ा, अन्तर्मुखता के कारण मेरा अनुष्ठान एक उनिन्दा व्यक्ति द्वारा की जाने वाली पूजा की भाँति था।

अपराह्न तक, समाधि का प्रभाव इतना अधिक हो गया था कि मैं अपने आह्निक को नीचपन से ही करने में सफल रहा और कदाचित् ही भिक्षा ग्रहण करने के बारे में सचेत था। भिक्षा के बाद, मैं तब तक निर्विकल्प-समाधि में अपने कक्ष में रहा जब तक अपने सायंकालीन स्नान का समय था, जिसे पूरा करने के लिए मुझे कुछ सहायाता की आवश्यकता पड़ी। मन आनन्द के नशे में इतना डूबा हुआ था कि माध्याह्निक की अपेक्षा सायमाह्निक बहुत निकृष्टतर रहा। उस रात, अपने कक्ष में जाने से पूर्व मैंने कुछ भी आहार नहीं स्वीकार किया, क्योंकि मुझे ऐसा करने में बहुत अनिच्छुक लगा। मैं वहाँ बैठ गया और तुरन्त ही निर्विकल्प-समाधि में चला गया।

गुरुजी की वाणी में प्रणव के स्वर के बारे में कुछ अस्पष्ट रूप से सचेत हो जाने पर, मैं समाधि से उतरा। जब मैंने अपनी आँखें खोलीं, तो स्वयं गुरुजी को देखा। वे मेरे पार्श्व में बैठे थे और मेरे सिर को अपने हाथ से मृदुता से सहला रहे थे। उन्होंने कहा, "इसका ध्यान रखते हुए कि फिर समाधि में प्रवेश न करें, अपने स्नान एवं आह्निक समाप्त करें और मेरे पास आएँ," और तुरन्त चले गए। मैंने आज्ञापालन किया।

मैं - ऐसा करने में क्या गुरुजी को बहुत कठिनाई हुई?

गुरुजी - नहीं, मेरे लिए गुरुजी की बात अन्तिम थी। समाधि में टिकने की प्रवृत्ति, चाहे वह कितनी भी शक्तिशाली क्यों न हो, गुरुजी के आदेश मानने की प्रवृत्ति के विरुद्ध खड़ी नहीं हो सकती थी। जब मैं गुरुजी के पास गया और उन्हें नमस्कार किया, तो उन्होंने मुझे बैठने का निर्देश दिया। फिर, उन्होंने कहा, "मैं जानता था कि आपका मन निर्विकल्प-समाधि में अधिकाधिक लीन होता जा रहा था। यद्यपि आपने समाधि की किसी भी आवश्यकता को पार कर लिया है, तथापि मैंने हस्तक्षेप नहीं किया। हालाँकि, कल रात भगवान ने मुझे यह स्पष्ट कर दिया कि आपकी समाधि इतनी तीव्र हो गई है कि आप स्वयं उससे बाहर नहीं निकलेंगे। यदि आपको समाधि से जगाया नहीं जाता, तो आप शारीरिक मृत्यु तक उसमें बने रहेते।

"उनकी प्रेरणा के अनुसार, मैं रात समाप्त होने से पहले आपके कक्ष में आया। आपके परिचारक को बाहर खड़े रहने के लिए कहकर, मैंने अकेले प्रवेश किया। मठ के कर्मचारी इस धारणा में हैं कि आप कल से अस्वस्थ हैं। इसलिए, उस परिचारक ने मान लिया कि मैं आपकी स्थिति की जाँच करने आया हूँ। मैंने आपको निश्चल, गहरी समाधि में बैठे पाया। बड़ी कठिनाई से, मैं आपको जगाने में सफल हुआ। अपनी समाधि और मन की अन्तर्मुखता को नियन्त्रित करें। अन्यथा, आज ही आपकी निर्विकल्प-समाधि ऐसी हो जाएगी कि आप इससे किसी के द्वारा भी सर्वथा जगाए नहीं जा सकेंगे। अनुलटनीय समाधि में प्रवेश करके और अपने मानुष रूप को त्यागकर, आप मुझे छोड़कर मत जाइए। आपके द्वारा मेरे लिए, दूसरों के लिए और मठ के लिए किए जाने के लिए बहुत कुछ है।"

{योगवासिष्ठ में सात ज्ञान-भूमिकाओं (ज्ञान के स्तरों) की रूपरेखा है। इनके बारे में, श्री विद्यारण्य जी ने जीवन्मुक्ति-विवेक के स्वरूपसिद्धि-प्रयोजन-प्रकरण में लिखा है —

अत्र भूमिकात्रितयं ब्रह्मविद्यायाः साधनमेव न तु विद्याकोटावन्तर्भवति।

(श्री विद्यारण्यजी के जीवन्मुक्ति-विवेक के स्वरूपसिद्धि-प्रयोजन-प्रकरण)

इधर प्रथम तीन स्तर ब्रह्म साक्षात्कार के साधन मात्र हैं और साक्षात्कार की श्रेणी के अन्तर्गत नहीं हैं।

... ब्रह्मात्मैक्य-साक्षात्कारश्चतुर्थी भूमिका फलरूपा सत्त्वापत्तिः। ... सोऽयं चतुर्थीं भूमिकां प्राप्तो योगी ब्रह्मविदित्युच्यते। पञ्चम्यादयस्तिस्रो भूमयो जीवन्मुक्तेरवान्तरभेदाः। ते च निर्विकल्प-समाध्यभ्यास-कृतेन विश्रान्ति-तारतम्येन सम्पद्यन्ते। पञ्चमभूमौ निर्विकल्पकात् स्वयमेव व्युत्तिष्ठते। सोऽयं योगी ब्रह्मविद्वरः। षष्ठभूमौ पार्श्वस्थैर्बोधितो व्युत्तिष्ठते। सोऽयं ब्रह्मविद्वरीयान्। ... तुरीयाभिधां सप्तमीं भूमिं प्राप्तस्य योगिनः स्वतः परतो वा व्युत्थानमेव नास्ति। सोऽयमीदृशो योगी ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युच्यते।

(श्री विद्यारण्यजी के जीवन्मुक्ति-विवेक के स्वरूपसिद्धि-प्रयोजन-प्रकरण)

(चौथा स्तर जो सत्त्वापत्ति (सत्त्व की प्राप्ति) कहलाता है, वह पहले तीन का फलस्वरूप है और आत्म-ब्रह्म-ऐक्य के साक्षात् अनुभव से अभिलक्षित किया जाता है ... चौथे स्तर पर पहुँचने वाले योगी को ब्रह्मविद् (ब्रह्मज्ञानी) कहा जाता है। पञ्चम स्तर से आगे जीवन्मुक्ति के प्रकार हैं। वे निर्विकल्प-समाधि के अभ्यास से सम्पन्न, मन की प्रशान्तता के तारतम्य से उत्पन्न होते हैं। [असंसक्ति (निर्लिप्तता) नामक] पञ्चम स्तर में, व्यक्ति निर्विकल्प-समाधि से अपने आप ही उभरता है। यह योगी ब्रह्मविद्वर (उच्च ब्रह्मज्ञानी) कहलाता है। [पदार्थाभावना (विषयों का अभाव) संज्ञक] छठे स्तर में, व्यक्ति निर्विकल्प-समाधि से तभी निकलता है जब आस-पास के व्यक्तियों द्वारा जगाया जाता है। ऐसा योगी ब्रह्मविद्वरीयान् (उच्चतर ब्रह्मज्ञानी) कहलाता है ... तुरीय कहलाने वाले सातवें स्तर पर जो योगी पहुँच गया है, वह कभी भी निर्विकल्प-समाधि से, या तो स्वयं या किसी दूसरे के प्रयास से, नहीं निकलता। ऐसा योगी ब्रह्मविद्वरिष्ठ (उच्चतम ब्रह्मज्ञानी) कहलाता है।)

योगवासिष्ठ में अभिलिखित है कि वसिष्ठ जी ने राम से कहा कि आत्म-साक्षात्कार के बाद, प्रह्लाद निर्विकल्प-समाधि में चले गए और लम्बे समय तक उसमें बने रहे। उनकी समाधि इतनी गहरी थी कि वे अपने आप उससे उतर नहीं सकते थे। अन्त में, लोककल्याण के लिए, भगवान ने अपना पाञ्चजन्य शङ्ख बजाकर, उन्हें उससे जगा दिया। प्रह्लाद की कथा सुनने के बाद, राम ने वसिष्ठ जी से पूछा कि प्रह्लाद को ब्रह्मलीन अवस्था से जगाना कैसे सम्भव था? वसिष्ठ जी ने उत्तर दिया —

भ्रष्टबीजोपमा भूयो जन्माङ्कुरविवर्जिता।
हृदि जीवद्विमुक्तानां शुद्धा वसति वासना॥

(लघु-योगवासिष्ठ 5.4.132)

जीवन्मुक्तों के मन में शुद्ध वासना (पूर्वानुभवों के अन्तर्निहित संस्कार, विचारों का बीज और भावनाएँ) होती है जो एक जले हुए बीज के समान है और जो पुनर्जन्म के अङ्कुर को उत्पन्न नहीं करती।

अपि वर्षासहस्रान्ते तयैवान्तरवस्थया।
सति देहे प्रबुध्यन्ते कुतोऽत्युच्छ्वनया शनैः॥

(लघु-योगवासिष्ठ 5.4.134)

शरीर के जीवित रहने के अधीन, एक सहस्र वर्ष बीत जाने के बाद भी, किसी माध्यम से इस आन्तरिक वासना के क्रमिक वृद्धि द्वारा, जीवन्मुक्त (निर्विकल्प-समाधि से) जागृत हो जाते हैं।}

(**गुरुजी** -) मैंने उस दिन समाधि को पूर्णतः त्याग दिया और रात में सो गया। अगले प्रातः तक, मैं एक बार फिर अपनी समाधि की अवधि निर्धारित करने की स्थिति में था और, अभिप्रेत प्रकार से, एक घंटे तक उस स्थिति में रहा। मेरे प्रातराह्निक के बाद, जब मुझे गुरुजी के दर्शन हुए, तो उन्होंने कहा, "यह परमगुरुजी (परमपूज्य श्री नृसिंह भारती महास्वामी जी) के निर्देश के पालन में था कि गुरुजी (परमपूज्य श्री सच्चिदानन्द शिवाभिनव नृसिंह भारती महास्वामी जी) ने योग में लीन होने के अपने उत्कट इच्छा को नियन्त्रित किया। मैं प्रसन्न हूँ कि मेरी इच्छा के सम्मान में, आपने अपनी समाधि को विनियमित किया और अब एक पूर्व निर्धारित अवधि के बाद आप स्वयं इससे उभर सकते हैं।

"जबकि अब आप अपने दैनन्दिन क्रियाकलापों को सम्भाल सकते हैं, आपका मन अभी भी इतना अन्तर्मुखी है कि वह तर्क इत्यादि शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन में संलग्न नहीं है। आपके मुखमण्डल पर केवल शान्ति एवं प्रसन्नता देखी जा सकती हैं। यहाँ तक कि अगर मैं, जिनके प्रति आप बहुत समर्पित हैं, अभी अपने शरीर को त्याग दूँ, तो भी आपके मुखमण्डल का भाव नहीं बदलेगा। चाहे आपको कितना भी अधिक मात्रा में उत्तेजित क्यों न किया जाए, क्रोध का लव लेश भी नहीं दिखाई देगा। विश्व की किसी भी वस्तु आपको सर्वथा भी रूचि नहीं देती है। यदि आप एक स्वतन्त्र संन्यासी होते, तो ये शिला जैसी अविचलितता और हर वस्तु में अनासक्ति, जो आसानी से प्रत्यक्ष हैं, निरपवाद होतीं। परन्तु, आप पर आधारित है इस महान पीठ का भविष्य।

"गुरुजी (परमपूज्य श्री सच्चिदानन्द शिवाभिनव नृसिंह भारती महास्वामी जी) सर्वदा ब्रह्मनिष्ठ थे। उनके लिए किसी से भी पाने या खोने के लिए कुछ भी नहीं था। फिर भी, अपनी भूमिका को पूर्णता से निभाते हुए, वे रोए जब परमगुरुजी (परमपूज्य नृसिंह भारती महास्वामी जी) ने अपना शरीर त्याग दिया, और आनन्द मनाए जब चन्द्रमौलीश्वर-लिङ्ग पुनः प्राप्त किया गया, वेदों और शास्त्रों के अध्ययन को बढ़ावा देने में गहरी रुचि दिखाई, लोगों के अच्छे प्रयासों की प्रशंसा की तथा अधर्म पथ पर उनके भटकने की अपनी अस्वीकृति व्यक्त की। उन्होंने न केवल आध्यात्मिक साधकों और महात्माओं के मन मुग्ध कर लिया, प्रत्युत सभी के। वे शास्त्रों के अतुल विद्वान थे, जिन्हें बड़े से बड़े विद्वान भी विस्मय की दृष्टि से देखते थे। वे पीठ को अतुलनीय महिमा लाए। आपको उनके जैसा होना चाहिए।

"इसके अनुरूप, ब्रह्म में अडिग रूप से संस्थित रहते हुए भी, आपको लगन से शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए और उनमें महारत प्राप्त करनी चाहिए। और तो और, जब भी उचित हो, भक्तों, मठ के कर्मचारियों और अन्य लोगों के साथ अपने व्यवहार में रुचि, प्रशंसा, चिन्ता, क्रोध, कौतुहल इत्यादि दिखाना सीखना चाहिए।"

अन्तः सन्त्यक्तसर्वाशो वीतरागो विवासनः।
बहिः सर्वसमाचारो लोके विहर राघव॥ (लघु-योगवासिष्ठ 5.2.56)

(हे राघव! भीतर से भविष्य से सम्बन्धित सभी लालसाओं से रहित, वर्तमान के कोई भी वस्तु से लगाव के बिना व अतीत से पैदा हुई वासनाओं से रहित, परन्तु बाहरी रूप से सभी आचरणों के अनुरूप, लोक में व्यवहार करो।)

बहिः कृत्रिमसंरम्भो हृदि संरम्भवर्जितः।
कर्ता बहिरकर्तान्तर्लोके विहर राघव॥ (लघु-योगवासिष्ठ 5.2.57)

(हे राघव! बाहर से कृत्रिम आसक्ति, क्रोध इत्यादि के साथ, परन्तु हृदय में बिना किसी विक्षोभ के, बाहरी रूप से कर्ता के रूप में, किन्तु आन्तरिक रूप से अकर्ता बनकर, लोक में व्यवहार करो।)

बहिस्तप्तोऽन्तरा शीतो लोके विहर राघव। (लघु-योगवासिष्ठ 5.2.60)

(हे राघव! बाहर गर्म और भीतर शीतल बनकर लोक में व्यवहार करो।)

इन श्लोकों को उद्धृत करते हुए गुरुजी ने कहा, "ये श्लोक योगवासिष्ठ से हैं और वसिष्ठ जी द्वारा राम को दिए गए परामर्श के अंश हैं। उनमें बताए अनुसार रहें। दूसरों के लिए, आपको आदर्श बनना चाहिए। दूसरों की स्थिति की सराहना करें, सूक्त ढंग से व्यवहार करें और उनका भला करें।"

{महान दूसरों के लिए आदर्श होते हैं, जो भगवान ने निम्नलिखित प्रकार कहा है —

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ (भगवद्गीता 3.21)

एक श्रेष्ठ व्यक्ति जो कुछ करता है, वही दूसरा करता है। वह प्रमाण के रूप में जो कुछ भी पुष्टि करता है, विश्व उसका अनुसरण करता है।

अज्ञानी के प्रति, जीवन्मुक्त के उचित आचरण के बारे में, इस प्रकार कहा गया है —

अविद्वदनुसारेण वृत्तिर्बुद्धस्य युज्यते।
स्तनन्धयानुसारेण वर्तते तत्पिता यतः॥ (पञ्चदशी 7.287)

यह उचित ही है कि एक ज्ञानी अज्ञानी के अनुरूप व्यवहार करे, जैसे गोद में लिए शिशु का पिता उसके अनुरूप व्यवहार करता है।

येनायं नटनेनात्र बुध्यते कार्यमेव तत्। (पञ्चदशी 7.290)

वह अभिनय अवश्य करना चाहिए जिससे अज्ञानी को ज्ञान की प्राप्ति हो।

योगवासिष्ठ में प्रस्तुत किया गया है कि वसिष्ठ जी ने राम को परम तत्त्व में संस्थित होने में सक्षम बनाया और परामर्श दिया कि वह समाधि में सदैव न

रहे और इसके बदले, लोगों को प्रसन्न करने का प्रयास करे। फिर राम ने कहा —

न विधिर्न निषेधश्च त्वत्प्रसादादहं पुनः।
तथापि तव वाक्यं तत्करणीयञ्च सर्वदा॥
वेदागमपुराणेषु स्मृतिष्वपि महामुने।
गुरुवाक्यं विधिः प्रोक्तो निषेधस्तद्विपर्ययः॥

(लघु-योगवासिष्ठ 6.18.74,75)

आपकी कृपा से, मैं विधि और निषेध के परे हूँ। फिर भी, आपका वचन सदैव मेरे द्वारा पूरा किया जाना चाहिए। हे मुनिवर! वेदों, आगमों, पुराणों एवं स्मृतियों में कहा गया है कि वह गुरु का वचन है जो किया जाना चाहिए और जो उसके विरोध में है, उसे त्याग देना चाहिए।}

(**गुरुजी** -) गुरुजी के निर्देशों को लागू करने के लिए, मैंने प्रचलित उदासीनता की उपेक्षा की और अपने तर्क पाठों का पुनरीक्षित किया। अगले सप्ताह में, मैंने धीरे-धीरे शास्त्रों के अध्ययन में लुप्त हुई रुचि को पुनर्जीवित किया। गुरुजी ने मेरी गहन परीक्षा करके और किसी भी कमियों पर मुझे डाँटते हुए, कृपापूर्वक इस प्रक्रिया में तेज़ी लाई। भावनात्मक प्रतिक्रियाओं को प्रदर्शित करना मेरे लिए कठिनतर निकला। मन ने केवल शान्ति और आनन्द का अनुभव किया और अतीत में इतनी आसानी से अनुभव की गई भावनाएँ एक अस्पष्ट, दूर के स्वप्न से अधिक कुछ नहीं लग रही थीं। यह सुनने में भले ही हास्यास्पद लगे, परन्तु शिव जी के दर्शन के बाद अनुष्ठित साधना, क्रोध या चिन्ता को प्रदर्शित करने के लिए नए सिरे से सीखने की तुलना में सरल और सहज थी। (स्वयं की ओर सङ्केत करके हँसते हुए) यह गुस्सैल बाघ उस समय बहुत ही कोमल गाय थी!

मेरे लिए यह स्पष्ट था कि गुरुजी का यह अभिप्राय नहीं था कि मैं मन में ऐसी भावनाओं के सर्वथा उत्पन्न हुए बिना ही, प्रसन्न, चिन्तित इत्यादि के होने का दिखावा करना सीखूँ। मुझे पता था कि मैं एक छली बनूँगा, यदि पूर्ण रूप से उदासीन होते हुए, मैं एक व्यक्ति को यह सोचने के लिए प्रेरित

करता हूँ कि मैं चाहता हूँ कि वह शीघ्र ही फिर से आए, या मुझे उसमें रुचि है जो वह मुझे दिखा रहा है, या कि मैं इस बात से अप्रसन्न हूँ कि उसने कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया। इसके अतिरिक्त, अनवरत और कड़ी भावनाओं से जुड़े शारीरिक सङ्केतों को पर्याप्त रूप से प्रदर्शित करना — जैसे कि क्रोध से लाल मुखमण्डल — बहुत कठिन होगा जब मन पूर्णतः प्रशान्त और उदासीन हो। मैं यह भी समझ सकता था कि ऐसा छल, भले ही पूरी लगन से किया गया हो, निस्सन्देह शीघ्र ही या बाद में उघड़ हो जाएगा। वैसे भी, गुरुजी द्वारा पाखण्ड और छल का समर्थन करने का प्रश्न उठता ही नहीं था।

अन्तर्वैयक्तिक व्यवहार को सुविधाजनक बनाने के लिए, मन दूसरों को छलने में दक्षता प्राप्त करने के बदले, क्षणभङ्गुर भावनाओं को समायोजित करना सीख सकता है। विचारों और भावनाओं का प्रकटन — केवल तब जब आवश्यक हो और परिस्थितियों के लिए उपयुक्त हो — मन को मूल रूप से नीरव छोड़ते हुए, प्रभावी और पूर्णतः आडम्बर के बिना कार्य करने में सक्षम बनेगा। इसके अतिरिक्त, इस प्रकार की मानसिक गतिविधि किसी भी बन्धन का कारण बनने के लिए अशक्त होगी, क्योंकि मन के साथ आत्मा का भ्रमात्मक तादात्म्य पहले ही सदैव दूर हो चुका था, और मन की मिथ्यात्व की कोई भूल भी नहीं थी। गुरुजी के निर्देशों के कार्यान्वयन के तात्पर्य और विधानों को स्पष्ट रूप से समझने में, मुझे कोई कठिनाई नहीं हुई।

{श्री विद्यारण्य जी ने अपने जीवन्मुक्ति-विवेक के वासनाक्षय-प्रकरण में लिखा है —

ननु ज्ञानिनो रागाद्यभ्युपगमे धर्माधर्म-द्वारेण जन्मान्तर-प्रसङ्ग इति चेन्मैवम्, अदग्ध-बीजवद् अविद्यापूर्वक-कामादेरेव मुख्यरागादित्वेन पुनर्जन्म-हेतुत्वात्। ज्ञानिनस्तु दग्धबीजवदाभासमात्रा एव रागादयः।

(श्री विद्यारण्यजी के जीवन्मुक्ति-विवेक के वासनाक्षय-प्रकरण)

आपत्ति — यदि तत्त्वज्ञानी में राग और द्वेष स्वीकार किए जाते हैं, तो परिणामी धर्म और अधर्म के कारण, उसकी मृत्यु के बाद पुनर्जन्म का

अवसर उत्पन्न होता है। समाधान — ऐसी बात नहीं है। राग और द्वेष, जो (अङ्कुरित होने में सक्षम) कच्चे बीजों के समान हैं और अविद्या द्वारा पूर्वलक्षित हैं (और, इसलिए, मन के साथ आत्मा के त्रुटिपूर्ण तादात्म्य से), लगाव और घृणा के प्राथमिक प्रकार होने के नाते, पुनर्जन्म का कारण बनते हैं। हालाँकि, तत्त्वज्ञानियों के राग इत्यादि (अङ्कुरित होने में असमर्थ) जले हुए बीजों जैसे होते हैं; और वे मुख्य (राग और द्वेष) के आभासमात्र होते हैं।

गुरुजी ने न केवल मन के साथ आत्मा के त्रुटिपूर्ण तादात्म्य के अन्त का उल्लेख किया, प्रत्युत मन के मिथ्यात्व के बारे में विस्मृति की अनुपस्थिति का भी उल्लेख किया। विस्मृति की अनुपस्थिति के बारे में जीवन्मुक्ति-विवेक में इससे पहले उद्धृत अनुच्छेद के बाद कहा गया है —

... तत्काले मुख्यवदेवाभासमानानां बाधकत्वात्, रज्जुसर्पोऽपि मुख्यसर्पवदेव तदानीं भीषयन्नुपलभ्यते तद्वत्। तर्ह्याभासत्वानुसन्धानानुवृत्तौ न कोऽपि बाध इति चेच्चिरं जीवतु भवान्। इयमेवास्मदभिमता जीवन्मुक्तिः।

(श्री विद्यारण्यजी के जीवन्मुक्ति-विवेक के वासनाक्षय-प्रकरण)

यद्यपि वे अज्ञानी के मुख्य राग और द्वेष के समान भासमात्र (और पुनर्जन्म में योगदान करने में असमर्थ) हैं, ज्ञानी के राग और द्वेष — जब कि वे टिके रहते हैं — मुख्य राग और द्वेष जैसे ही क्लेश के कारण बन सकते हैं। रस्सी के स्थान पर दिखाई देने वाला झूठा साँप, कुछ समय के लिए सच्चे साँप के समान ही भय पैदा करता है। आभासी राग और द्वेष का विषय ऐसा है। आपत्ति — आभासी राग और द्वेष की मिथ्यात्व को ध्यान में रखा जाए, तो (अस्थायी रूप से भी) कोई क्लेश नहीं होगा। समाधान — आप दीर्घायु हों! इसी (मिथ्यात्व को ध्यान में रखने) को हम जीवन्मुक्ति का चिह्न मानते हैं।

भगवत्पाद जी ने बृहदारण्यक-उपनिषद के (1.4.10) मन्त्र पर अपने भाष्य में तत्तवज्ञानी में क्षणिक भ्रम पैदा करने वाली दृश्यमान धारणाओं की सम्भावना को इस प्रकार बताया है —

... न च विपरीतप्रत्ययो विद्यावत उत्पद्यते। ... क्वचित्तु विद्यायाः पूर्वोत्पन्न-विपरीत-प्रत्यय-जनित-संस्कारेभ्यो विपरीत-प्रत्ययावभासाः स्मृतयो जायमाना विपरीत-प्रत्यय-भ्रान्तिमकस्मात्कुर्वन्ति। यथा विज्ञात-दिग्विभागस्य अपि अकस्मात् दिग्विपर्यय-विभ्रमः।

(भगवत्पाद जी के बृहदारण्यक-उपनिषद्-भाष्य 1.4.10)

तत्त्वज्ञानी में त्रुटिपूर्ण धारणाएँ (जैसे कि वह एक कर्ता है और वह सुख और दुःख का भोक्ता है) उत्पन्न नहीं हो सकतीं ... हालाँकि, कभी-कभी साक्षात्कार से पहले उत्पन्न हुई, त्रुटिपूर्ण धारणाओं द्वारा निर्मित त्रुटिपूर्ण धारणाओं के आभास संस्कारों से उपजी स्मृतियाँ अचानक उठती हैं, और उस व्यक्ति को इस प्रकार भ्रमित कर देती हैं कि वे वस्तुतः विपरीत भावनाएँ हैं, जिस प्रकार दिशाओं को अच्छे से जानने वाला भी, कभी-कभी अचानक उनके बारे में भ्रमित हो जाता है।

पञ्चदशी में कहा गया है —

भोगकाले कदाचित्तु मर्त्योऽहमिति भासते॥
नैतावताऽपराधेन तत्त्वज्ञानं विनश्यति।
जीवन्मुक्तिव्रतं नेदं किन्तु वस्तुस्थितिः खलु॥

(पञ्चदशी 7.245,246)

कभी-कभी भोगते समय, "मैं मनुष्य हूँ" — ऐसा विचार प्रतीत हो सकता है। बस इतने दोष से तत्त्वज्ञान नष्ट नहीं होगा। यह (ऐसी धारणाओं का उन्मूलन) जीवन्मुक्ति का (प्रबुद्ध व्यक्ति द्वारा बिना थोड़ी सी भी ढिलाई के, पालन किया जाने वाला) कोई व्रत नहीं है। किन्तु, वस्तुस्थिति ऐसी ही है।}

मैं - क्या गुरुजी के मन में वर्षों से, तीव्र क्रोध, चिन्ता या शोक प्रकट हुआ है, यहाँ तक कि कुछ ही समय के लिए भी, बिना इसके मिथ्यात्व के प्रति जागरूकता के?

गुरुजी - नहीं, कभी नहीं। यहाँ तक कि अत्यन्त तीक्ष्ण पीड़ा के समय भी, यह स्पष्ट जागरूकता रही है कि यह केवल भ्रमात्मक मन से सम्बन्धित है

और मैं निर्विकार साक्षी हूँ, जो शुद्ध चैतन्य-स्वरूप है। यह सब गुरुजी और भगवान की कृपा से ही हुआ है। अन्यथा, मेरे जैसे साधारण व्यक्ति के भी, ब्रह्म में दृढ़ता से स्थापित होने का और, जैसा कि मुझे निर्देशित किया गया था, इस संसार में कार्य करने का प्रश्न ही कहाँ था?

यद्यपि गुरुजी ही थे जिन्होंने मेरा उत्थान किया, तथापि अहङ्कार से उनकी परिपूर्ण मुक्ति के और मेरे प्रति उनके असाधारण प्रेम के कारण, मुझे (1936 में) बेंगलूरु भेजने से पहले, वे यहाँ तक कह गए — "मैं जानता हूँ कि आप स्वयं भगवान हैं और सदा परिपूर्ण हैं। आपका साधना में संलग्न होना और साक्षात्कार प्राप्त करना, आपकी दिव्य लीला का केवल एक अंश था। आपके द्वारा शिव जी के दर्शन पाना और आपकी साधना को अपने चरमोत्कर्ष पर ले जाने से कुछ दिन पहले शिव जी के अनुग्रह और निर्देश प्राप्त करना, कृष्ण द्वारा प्राप्त शिव जी के दर्शन, आशीर्वाद और निर्देश के स्तर पर ही थे।"

{इस समय, गुरुजी का मुख भाव से लाल हो गया। अपनी हथेलियों को जोड़कर, वे परमगुरुजी के एक भाव-चित्र की ओर मुड़े।}

(**गुरुजी** -) उनके जैसा कौन हो सकता है? उनका शिष्य होने के लिए मैं बहुत भाग्यशाली हूँ।

{गुरुजी के बारे में परमगुरुजी द्वारा रचित तीन श्लोक निम्नलिखित हैं; उनकी रचना की अवधि गुरुजी द्वारा सुभानु-संवत्सर का अश्विन-मास (30.9.1943 – 29.10.1943) के रूप में दी गई है।

दयासान्द्रं बालं निखिलजगतीरक्षणचणं
हरन्तं विघ्नाद्रिं विमलविमलैर्वीक्षणचयैः।
परब्रह्माकारं प्रणवविदितं शान्तमनसं
गुरुं विद्यातीर्थं कलयत बुधाश्चित्तकमले॥

(गुरुजी के विषय में परमगुरुजी की रचना)

हे बुद्धिमान लोगों! शान्त-चित्तवाले युवा, अत्यन्त दयालु, अपनी परम विमल सरसरी दृष्टियों से विघ्नों के पर्वत को नष्ट कर देने वाले, समग्र विश्व की रक्षा करने में कुशल, प्रणव (ॐ-कार) के माध्यम से विदित और परब्रह्म की अभिव्यक्ति — ऐसे गुरु विद्यातीर्थ को अपने हृदय-कमल में धारण करें।

शरीरेन्द्रियचित्तानां शुद्धये कल्पिता महाः।
बहवो गुरुदेवानां तत्फलं भवतां तनुः॥

(गुरुजी के विषय में परमगुरुजी की रचना)

शरीर, इन्द्रियों और चित्त की शुद्धि के लिए गुरुओं और देवताओं से जुड़े कई संस्कार एवं उत्सव बनाए गए हैं। आपका शरीर उनका फल है।

वाणी लक्ष्मीस्तथा गौरी तिष्ठन्तं निद्रया युतम्।
गच्छन्तमुपविष्टञ्च पान्तु त्वां गुरुशेखरम्॥

(गुरुजी के विषय में परमगुरुजी की रचना)

जब आप सर्वश्रेष्ठ गुरु सोते हैं, बैठते हैं, खड़े होते हैं और चलते हैं, तब वाणी, लक्ष्मी और गौरी आप की रक्षा करें।

गुरुजी को श्लोक देने के बाद, परमगुरुजी ने कहा, "मैंने वही लिखा है जो मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि आपके बारे में सच है; यहाँ कोई प्रशंसा नहीं है।"

परमगुरुजी ने कुछ भक्तों से व्यक्त रूप से कहा कि गुरुजी स्वयं भगवान हैं और उन्हें यह नहीं सोचना चाहिए कि वे केवल एक युवा संन्यासी हैं।}

परमपूज्य जगद्गुरु श्री अभिनव विद्यातीर्थ महास्वामी जी (गुरुजी) श्रेष्ठतम मुनिवर एवं प्रकाण्ड पण्डित होते हुए, श्री शङ्कर भगवत्पाद जी द्वारा स्थापित शृङ्गेरी श्री शारदा पीठ के 35वें पीठाधीश्वर के रूप में विराजमान थे। उनका जन्म 13.11.1917 को हुआ। उन्हें अपने गुरु परम-विरक्त तथा जीवन्मुक्त (जीवित रहते हुए संसार बन्धन से मुक्त) परमपूज्य जगदगुरु श्री चन्द्रशेखर भारती महास्वामी जी ने 22.5.1931 को संन्यास दीक्षा से अनुगृहीत किया। गुरुजी स्वयं भगवान से और अपने गुरु से मार्गदर्शन प्राप्त करके, अपनी संन्यास दीक्षा के दिन से ही तीव्र आध्यात्मिक साधनाओं में लगे हुए थे। उन साधनाओं के चरमोत्कर्ष के रूप में, 12.12.1935 को साक्षात्कार प्राप्त करके, परब्रह्म में प्रतिष्ठित रहे। उन साधनाओं से जुड़े कई विवरण गुरुजी ने अपने पास रखा था; लेकिन इस नियम के अपवाद के रूप में, कई दशकों के बाद, उन्होंने अपनी असीम और अहैतुक कृपा से उन्हें अपने एक निकट शिष्य को अवगत कराया, जो इस हिन्दी अनुवाद के मूल अंग्रेज़ी ग्रन्थ के लेखक हैं।

शृङ्गेरी श्री शारदा पीठ के 36वें पीठाधीश्वर परमपूज्य जगद्गुरु श्री भारती तीर्थ महास्वामी जी द्वारा गुरुजी के बारे में अभिव्यक्त विचारों के सङ्ग्रह के साथ इस ग्रन्थ का आरम्भ होता है। फ़िर, गुरुजी द्वारा अपने गुरु के बारे में अभिव्यक्त विषयों का सारांश प्रस्तुत किया गया है। तत्पश्चात्, गुरुजी के संन्यास-पूर्व दिनों के प्रसङ्गोचित वृत्तान्त का विवरण दिया गया है। गुरुजी के हठ-योग, भक्ति, कर्म-योग, कुण्डलिनी-योग, नादानुसन्धान, आत्म-चिन्तन, भगवान के दिव्य रूपों पर ध्यान एवं समाधि, शास्त्रों के आधार पर तत्त्व का मनन, परब्रह्म पर सविकल्प-समाधि तथा निर्विकल्प-समाधि (योग की पराकाष्ठा), अनात्म-वासनओं का उन्मूलन, ब्रह्म-साक्षात्कार और जीवन्मुक्ति — ये विस्तृत रूप से वर्णित हैं। उक्त विषयों को विशद करने व अधिकतर जानकारी प्रस्तुत करने के उद्देश्य से, न केवल शास्त्रों और अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों से उदाहृत पङ्क्तियाँ, अपितु गुरुजी के अपने ही अनुग्रह-व्याख्यानों से व इसी तरह उनसे निजी संवादों से भी चुने हुए अंश भी, जहाँ तहाँ अन्तर्विष्ट किए गए हैं। इस प्रकार यह सङ्ग्रह योग व वेदान्त तत्त्वों का यथार्थ प्रतिपादक ग्रन्थ है। इस हिन्दी भाषान्तर के मूल अंग्रेज़ी ग्रन्थ को परमपूज्य जगद्गुरु श्री भारती तीर्थ महास्वामी जी ने श्रीमुख प्रदान किया था।

ISBN 978-81-957509-2-4
9 788195 750924

Centre for Brahmavidya

List of Publications — June 2022

ENGLISH

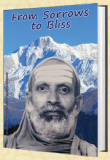

Title: From Sorrows to Bliss
Pages: 232 | Subsidised price: ₹100/-
Author: A Disciple
ISBN: 978-81-944382-4-3

This publication comprises the invaluable teachings of His Holiness Jagadguru Sri Abhinava Vidyatheertha Mahaswamiji, the 35th Jagadguru Shankaracharya of Sringeri Sri Sharada Peetham, presented in four parts, namely, Definitive Answers, Motivating Narratives, Scriptural Expositions and Incisive Essays.

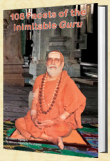

Title: 108 Facets of the Inimitable Guru
Pages: 302 | Subsidised price: ₹100/-
Authors: Dr. Meenakshi Lakshmanan & Dr. H. N. Shankar
ISBN: 978-81-950399-7-5

Elucidation of the Ashtottara-shata-namavali (108 sacred names) of His Holiness Jagadguru Sri Abhinava Vidyatheertha Mahaswamiji, the 35th Jagadguru Shankaracharya of Sringeri Sri Sharada Peetham, composed by His Holiness Jagadguru Sri Bharathi Theertha Mahaswamiji, the 36th Jagadguru Shankaracharya and the reigning Pontiff of the Peetham.

Title: Shankaracharya of Sringeri - His Holiness Jagadguru Sri Bharathi Theertha Mahaswamiji
Pages: 32 | Subsidised price: ₹50/-
Author: A Disciple
ISBN: 978-81-944382-8-1

A pictorial book portraying the life and teachings of His Holiness Jagadguru Sri Bharathi Theertha Mahaswamiji, the 36th Jagadguru Shankaracharya and the reigning Pontiff of Sringeri Sri Sharada Peetham.

HINDI

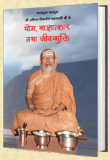

Title: Yog, Sakshatkar Tatha Jivanmukti
Pages: 247 | Subsidised price: ₹100/-
Translator: Vidwan Dr. Satheesha K. S.
ISBN: 978-81-950399-3-7

This is an invaluable wealth of information on the spiritual practices — Karma-yoga, Kundalini-yoga, Samadhi, deep contemplation on Brahman, etc. — of His Holiness Jagadguru Sri Abhinava Vidyatheertha Mahaswamiji, the 35th Jagadguru Shankaracharya of Sringeri Sri Sharada Peetham. It presents the spiritual journey of this great Yogi, an unmatched Advaita-Vedantin and a Jivanmukta par excellence.

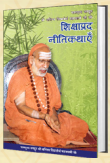

Title: Paramapujya Jagadguru Sri Abhinava Vidyatheertha Mahaswami ji ki Shikshaprad Neetikathaen
Pages: 276 | Subsidised price: ₹100/-
Translator: Sri Divyasanu Pandey
ISBN: 978-81-950399-2-0

His Holiness Sri Abhinava Vidyatheertha Mahaswamiji, the 35th Jagadguru Shankaracharya of Sringeri Sri Sharada Peetham was a rare sage who rendered even highly complex scriptural topics easily intelligible to even common folk through His narratives. This is a compilation of stories conceived by Him on the spot or based on the Vedas, Ramayana, Mahabharata, Puranas, etc.

Title: Dukhon Se Paramanand Tak
Pages: 336 | Subsidised price: ₹120/-
Translator: Hindi Martand Sri K. V. Srinivasa Murthy
ISBN: 978-81-950399-1-3

This publication comprises the invaluable teachings of His Holiness Jagadguru Sri Abhinava Vidyatheertha Mahaswamiji, the 35th Jagadguru Shankaracharya of Sringeri Sri Sharada Peetham, presented in four parts, namely, Definitive Answers, Motivating Narratives, Scriptural Expositions and Incisive Essays.

Title: Sringeri Shankaracharya - Paramapujya Jagadguru Sri Bharathi Theertha Mahaswami Ji
Pages: 32 | Subsidised price: ₹50/-
Author: Smt. Jayasree Venkateswaran
ISBN: 978-81-950399-6-8

A pictorial book portraying the life and teachings of His Holiness Jagadguru Sri Bharathi Theertha Mahaswamiji, the 36th Jagadguru Shankaracharya and the reigning Pontiff of Sringeri Sri Sharada Peetham.

Centre for Brahmavidya
SVK Towers, 8th Floor, A25, Industrial Estate, Guindy
Chennai 600032; INDIA
Email: contact@centreforbrahmavidya.org

To place orders:
www.centreforbrahmavidya.org

Contact (WA):
K. Venkataramanan: +91-7397487666
K. Parthasarathy: +91-7358388704

Centre for Brahmavidya

List of Publications — June 2022

TAMIL

Title: Jagadguruvin Sollamudam
Pages: 192 | Subsidised price: ₹80/-
Author: A Disciple
ISBN: 978-81-944382-6-7

This publication comprises the invaluable teachings of His Holiness Jagadguru Sri Abhinava Vidyatheertha Mahaswamiji, the 35th Jagadguru Shankaracharya of Sringeri Sri Sharada Peetham, presented in three parts, comprising His Replies to the questions of His disciples, Scriptural Expositions and Essays.

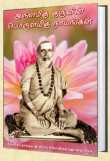

Title: Arulmigu Guruvin Porulmigu-Naamangal
Pages: 296 | Subsidised price: ₹100/-
Author: K. Suresh Chandar
ISBN: 978-81-944382-2-9

Elucidation of the Ashtottara-shata-namavali (108 sacred names) of His Holiness Jagadguru Sri Abhinava Vidyatheertha Mahaswamiji, the 35th Jagadguru Shankaracharya of Sringeri Sri Sharada Peetham, composed by His Holiness Jagadguru Sri Bharathi Theertha Mahaswamiji, the 36th Jagadguru Shankaracharya and the reigning Pontiff of the Peetham.

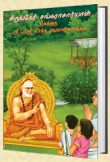

Title: Sringeri Shankaracharyal - Jagadguru Sri Bharathi Theertha Mahaswamigal
Pages: 32 | Subsidised price: ₹50/-
Author: Dr. R. Suganya
ISBN: 978-81-950399-4-4

A pictorial book portraying the life and teachings of His Holiness Jagadguru Sri Bharathi Theertha Mahaswamiji, the 36th Jagadguru Shankaracharya and the reigning Pontiff of Sringeri Sri Sharada Peetham.

Title: Endrum Puthiyavar
Pages: 202 | Subsidised price: ₹80/-
Author: Dr. V. N. Muthukumar
ISBN: 978-81-944382-0-5

This book is a detailed, word-by-word exposition of a Sanskrit verse in veneration of His Holiness Jagadguru Sri Abhinava Vidyatheertha Mahaswamiji, the 35th Jagadguru Shankaracharya of Sringeri Sri Sharada Peetham, composed by His Holiness Jagadguru Sri Bharathi Theertha Mahaswamiji, the 36th Jagadguru Shankaracharya and the reigning Pontiff of the Peetham.

KANNADA

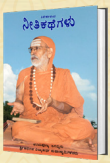

Title: Tiliheluva Neetikathegalu
Pages: 246 | Subsidised price: ₹100/-
Author: Dr. H. N. Shankar
ISBN: 978-81-944382-9-8

This book contains a compilation of parables narrated by His Holiness Jagadguru Sri Abhinava Vidyatheertha Mahaswamiji, the 35th Jagadguru Shankaracharya of Sringeri Sri Sharada Peetham. The sources of the parables are His benedictory addresses and private conversations.

Title: Sringeri Shankaracharyaru - Paramapujya Jagadguru Sri Bharathi Theertha Mahaswamigalu
Pages: 32 | Subsidised price: ₹50/-
Author: Prof. R. Muralishankar
ISBN: 978-81-950399-5-1

A pictorial book portraying the life and teachings of His Holiness Jagadguru Sri Bharathi Theertha Mahaswamiji, the 36th Jagadguru Shankaracharya and the reigning Pontiff of Sringeri Sri Sharada Peetham.

Centre for Brahmavidya
SVK Towers, 8th Floor, A25, Industrial Estate, Guindy
Chennai 600032; INDIA
Email: contact@centreforbrahmavidya.org

To place orders:
www.centreforbrahmavidya.org

Contact (WA):
K. Venkataramanan: +91-7397487666
K. Parthasarathy: +91-7358388704